डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर मराठवाडा विश्वविद्यालय, औरंगाबाद

की एम.फिल. (हिंदी) उपाधि हेतू प्रस्तुत

लघुशोध-प्रबंध

''भगवानदास मोरवाल कृत शकुंतिका: भारतीय परिदृश्य और नारी चेतना''

शोधछात्रा

सविता जगन्नाथ धुमाळ

शोध निर्देशक

डॉ. भगवान गव्हाडे

सहयोगी प्रोफेसर, हिंदी विभाग,

डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर मराठवाडा

विश्वविद्यालय, औरंगाबाद.

फरवरी-२०२३

प्रतिज्ञापत्र

मैं **सविता जगन्नाथ धुमाळ** प्रतिज्ञापूर्वक निवेदन करती हूँ कि ***''भगवानदास मोरवाल कृत शकुंतिकाः भारतीय परिदृश्य और नारी चेतना''*** इस विषय पर प्रस्तुत किया गया यह शोध-प्रबंध मेरी अपनी कृति है।

जहाँ तक मेरा अनुमान है कि इस विषय पर किसी विश्वविद्यालय में शोधाकार्य नहीं हुआ है। इसका कोई अंश अन्य किसी उपाधि के लिए प्रस्तुत नहीं किया गया है, न ही इसका कोई अंश प्रकाशित किया गया है।

स्थान : औरंगाबाद

तिथी : /०२/२०२३

शोध छात्रा

सविता जगन्नाथ धुमाळ

डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर मराठवाडा विश्वविद्यालय,
औरंगाबाद

प्रमाणपत्र

प्रमाणित किया जाता है कि **सविता जगन्नाथ धुमाळ** ने ***''भगवानदास मोरवाल कृत शकुंतिका: भारतीय परिदृश्य और नारी चेतना''*** इस विषय पर यह शोध-प्रबंध मेरे निर्देशन में डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर मराठवाडा विश्वविद्यालय, औरंगाबाद को एम.फिल. (हिंदी) उपाधि हेतु प्रस्तुत किया है। यह इनकी मौलिक कृति है। इसका कोई अंश किसी उपाधि के लिए प्रस्तुत नहीं किया गया है और न प्रकशित किया गया है।

मैं संस्तुति करता हूं कि शोध प्रबंध को परीक्षणार्थ अग्रेषित किया जाए।

स्थान : औरंगाबाद

तिथी : /०२/२०२३

शोध निर्देशक

डॉ. भगवान गव्हाडे
सहयोगी प्रोफेसर, हिंदी विभाग,
डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर मराठवाडा
विश्वविद्यालय, औरंगाबाद

विशेष आभार

मैं **सविता जगन्नाथ धुमाळ** डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर मराठवाडा विश्वविद्यालय, औरंगाबाद के हिंदी विभाग की शोधार्थी हूँ। मैंने *''भगवानदास मोरवाल कृत शकुंतिका: भारतीय परिदृश्य और नारी चेतना''* इस विषय पर एम. फिल. (हिंदी) का शोध कार्य पूरा किया है। इस शोध कार्य को पूरा करने के लिए **'छत्रपती शाहू महाराज राष्ट्रीय संशोधन, प्रशिक्षण व मानव विकास संस्था (सारथी), पुणे''** *इस संस्था* ने अधिछात्रवृत्ति के रूप में आर्थिक सहायता की है।

इस वजह से मेरा शोधकार्य पूरा करने के लिए आर्थिक मदद हुई है। अत: मैं सारथी संस्था का हृदय से आभार व्यक्त करती हूँ।

स्थान : औरंगाबाद
तिथी : /०२/२०२३

शोध छात्रा

सविता जगन्नाथ धुमाळ

प्राक्कथन

झुंझलाते हुए हृदय की पीडाओं का समन्दर जब कलम की धार बनकर सामाजिक चिन्तन के माध्यम से साहित्य के सिपाही से नि:सृत हो रुपाकार लेता है, तब मानवता की वैचारिक कोख से साहित्य कृतियों का जन्म समाज के स-हित रूप में होता है। पीडाओं की घनीभूत परिस्थितियों से निरन्तर चोटहिल हो रही मानवता और मनुष्य-मनुष्य की बढती दूरी का सर्पदंश सबसे बडी समस्या है। इस सर्पदंश को समय-समय पर साहित्य की अन्य विधाओं ने समकालीन परिस्थितियों के अनुरुप होकर उकेरा है। लेकिन इस सर्पदंश को अत्याधिक निकट से अनुभव करने में हिंदी साहित्य अग्रणी रहा है। यही कारण है कि हिंदी के विराट उपन्यास फलक पर भारतीय समाज की जितनी यथार्थ धारणाएँ और अनुभूतियाँ चिंतन की राह पा सकी है, इसका श्रेय हिंदी साहित्य की किसी अन्य विधा को नहीं है। इस दृष्टि से हिंदी साहित्य की उपन्यास विधा ने भारतीय समाज की वैविध्यपूर्ण संरचनाओं के एक-एक रेशे के यथार्थ को उकेर के रख दिया है।

साहित्य का क्षेत्र विस्तृत है इसलिए उसे कई महत्त्वपूर्ण विधाओं में विभाजित किया गया है। उपन्यास भी उन्हीं में से एक सशक्त विधा है, जो साहित्य की अत्यंत महत्त्वपूर्ण एवं लोकप्रिय विधा है। उपन्यास गद्य साहित्य का वह समर्थ रूप है, जिसमें प्रबंध काव्य को सी धार्मिकता, नाटकों सा प्रभाव गांभिर्य तथा छोटी कहानी की सी कलात्मकता एक साथ मिल जाएगी। कुछ लेखक ऐसे होते हैं जो पहली बार में अच्छे लगते हैं और मन पर छा जाते हैं, लेकिन धीरे-धीरे उसकी प्रभाव छाया अधिक गहरी हो जाती है। दूसरी और कुछ ऐसे भी होते हैं जो पहली मुलाकात में बडे सीधे-साधारण से लगते हैं धीरे-धीरे उनका प्रभाव गहराता है। वे हमें लपेटते जाते हैं और उनके प्रभाव

से बच पाना असंभव होता है। वर्तमान समय हे एक सशक्त हस्ताक्षर भगवानदास मोरवाल इसी कोटी के लेखक हैं। स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य में अपनी विशिष्ट पहचान बनानेवाले रचनाकारों में भगवानदास मोरवाल का महत्त्वपूर्ण स्थान है। साहित्य सृजन में भगवानदास मोरवाल जी की अनवरत सक्रिय उपस्थित गुण और परिणाम दोनों ही दृष्टियों से उल्लेखनीय है। उनका समग्र लेखन उनके बहुआयामी व्यक्तित्त्व को स्पष्ट करता है। उनके लिए जीवन कर्म और जिजीविषा का पर्याय है। गहन आस्था से मिलकर उनका व्यक्तित्त्व चेतन हो उठा है। जीवन को जीते हुए उससे प्राप्त विभिन्न अनुभवों को ज्यों का त्यों शब्दों में बाँध लेना उनकी स्वभावगत विशेषता है। जीवन संग्राम के जिवंत योद्धा, उदार अलमस्त मानव, प्रगतिशील विचारक, बहुभुत कर्मठ अध्यापक, लेखों, कविताओं, कहानियों, उपन्यासों क सर्जक-उन सबको मिलाकर जो व्यक्तित्त्व बनता है, उसका नाम है भगवानदास मोरवाल।

भारतीय साहित्याकाश में भगवानदास मोरवाल एक ऐसे लेखक हैं, जिनमें व्यक्ति और समाज अलग-अलग इकाई न होकर एक दूसरे के पूरक हैं। मोरवाल जी के साहित्य में अपनी संपूर्ण अच्छाई-बुराई के साथ समाज का संपूर्ण जीवन हमारे सामने पूरी शिद्दत के साथ आता है। हरियाणा के मेवात जिले के छोटे-से कस्बे नगीना के मजदूर परिवार में जन्में कथाकार भगवानदास मोरवाल अपने गहरे कथात्मक अन्वेषण, अनुसंधान और अछूते विषयों को केंद्र में रखकर लिखी कृतियों से हिंदी साहित्य में अपनी अलग पहचान बना चुके हैं। उनके विषय अनूठे और पात्र लोकजीवी होते हैं। इनके साहित्य के लिए कई प्रतिष्ठित पुरस्कार से मोरवाल जी को सम्मानित किया जा चुका है।

उपन्यास का काम परंपरागत भारतीय सामाजिक यथार्थ के प्रतिनिधित्व को प्रस्तुत करना होता है। इसी से 'शकुंतिका' आख्यान है स्त्री के उन दुखों का जो अपने घर,

परिवार और सामाजिक रूढि से असुरक्षित, अभेद्य किले में कैद है। जिसके हरेक नाके पर तैनात है, एक पहरेदार अपने हाथ में थामे धर्मग्रंथों के उपदेशों एवं तथाकथित आदेशों की धारदार नुकीली बरछी। बहुमुखी रचनाधर्मी भगवानदास मोरवाल ने नौ उपन्यास लिखे जिसमें स्त्री, दलित और हाशिए का समाज ही इनके लेखन का प्रस्थान बिंदू रहा है। जिसका अध्ययन एवं अनुसंधान करना वर्तमान की आवश्यकता है।

विषय चयन की प्रेरणा:

बचपन से ही मुझे कविता और कहानियों की किताबें पढने का शौक रहा है। उसमें भी उपन्यास पढना जादा अच्छा लगता है। हिंदी साहित्य ने मुझे सबसे अधिक प्रभावित है। भगवानदास मोरवाल जी के उपन्यास पढकर समझ में आया कि जो अपने आस-पास की घटित घटनाएँ हैं, उनको ही दर्शाने का काम उपन्यास कर रहा है। उपेक्षित नारी, वंचित दलित और शोषित प्रताडित मुस्लिम की समस्याओं तथा सामाजिक यथार्थ को उन्होंने दर्शाया है। उसमें वर्णित वास्तव को देखकर उनके उपन्यास पर शोधकार्य करने की जिज्ञासा मरे मन में निर्माण हुई। मैंने अपनी इसी जिज्ञासा को मेरे शोध निर्देशक गुरुवर्य प्रो. डॉ. भगवान गव्हाडे सर के सामने रखा और इस विषय पर विचार विमर्श करने के बाद "भगवानदास मोरवाल कृत शकुंतिका : भारतीय सामाजिक परिदृश्य और नारी चेतना" इस विषय का शोधकार्य हेतु चयन किया। प्रस्तुत शोधकार्य अत्यंत नया और मौलिक है।

शोध विषय का महत्त्व:

प्रस्तुत शोधकार्य का केंद्र भगवानदास मोरवाल का उपन्यास 'शकुंतिका' यह है। इस उपन्यास में सामाजिक परिवर्तन की दिशा स्पष्ट दिखाई देती है। समाज की मानसिकता बदल देनेवाले, नई सामाजिक संरचना, नारी को केंद्र में रखकर समाज की तस्वीर सामने रखनेवाला है। इस उपन्यास में नारी की संवेदनाओं की जिवंत अभिव्यक्ति

को दर्शाया गया है। समाज बदलते रूप एवं उसके आज के वास्तविक स्वरूप को दर्शाया गया है। नारी की समस्याओं, संवेदनाओं, अस्मिताओं तथा उनके बदले हुए रूप को दर्शाना महत्त्वपूर्ण होगा। इसीलिए हमने शकुंतिका उपन्यास को चुना है।

शोध का उद्देश्य:

वरिष्ठ साहित्यकार भगवानदास मोरवाल के उपन्यास के माध्यम से नारी जीवन के यथार्थ चित्रण और चेतना को दर्शाया जाएगा। नारी जीवन को सशक्त बनाने वाले कारकों एवं कारणों को तथा नारी के टूटन के जिम्मेदार करकों एवं कारणों की खोज करना इस शोधकार्य का मुख्य उद्देश्य रहेगा। भगवानदास मोरवाल के उपन्यास में परंपरागत सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक स्थिति को दर्शाया जाएगा। इस शोधकार्य में भगवानदास मोरवाल के उपन्यासों के माध्यम से नारी की समस्याओं, संवेदनाओं, अस्मिताओं तथा उनके बदले हुए रूप को प्रस्तुत किया जाएगा। प्रस्तुत उपन्यास पर आज तक कोई भी शोधकार्य संपन्न नहीं हुआ है। इसलिए यह शोधकार्य आवश्यक है।

शोध प्रविधि:

अनुसंधान को प्रभावी रूप में प्रस्तुति हेतु आलोचनात्मक,वर्णनात्मक, विवेचनात्मक, विश्लेषणात्मक, तुलनात्मक एवं सैद्धांतिक प्रविधियों का प्रयोग और अनुपालन किया गया है।

अनुसंधान की रूपरेखा:

प्रस्तुत अनुसंधान कार्य के सफल एवं सार्थक निर्वाह हेतु शोध-कार्य को कुल पाँच अध्यायों में विभाजित किया गया है। साथ ही शोध सारांश को उपसंहार में रखा गया है। एवं निष्कर्ष इस प्रकार से विभाजित किया गया है। अध्यायों का स्वरूप निम्न प्रकार से होगा।

प्रथम आध्याय: भारतीय परंपरागत सामाजिक परिदृश्य : एक अवलोकन

प्रस्तुत अध्याय के अंतर्गत भारतीय पुरुषप्रधान संस्कृति का विस्तार से विश्लेषण किया जाएगा। धर्मग्रंथों, वेदों, उपनिषदों, ऋचाओं तथा श्रुति ग्रंथों में नारी को बंधनों में जकडकर रखने की बात की गई है। उसके रूप-स्वरूप, क्रिय-कलाप, रहन-सहन और भावात्मक संवेदनाओं के आधार पर कमजोर और निराश्रित दर्शाया गया है। जिसके चलते हमारी वर्तमान पीढियाँ बर्बाद हो रही है। धर्म, वर्ण, वंश, लिंग भेदभाव के प्रभाव के कारण नारी का सर्वांगीण विकास नहीं हो पाया है। इस बात का समग्र अध्ययन प्रस्तुत अध्याय में किया गया है। जो सामाजिक दृष्टि से मौलिक सिद्ध होगा।

द्वितीय अध्याय: भगवानदास मोरवाल का जीवन परिचय एवं रचनाएँ:

इस अध्याय के अंतर्गत हिंदी साहित्य के बहुचर्चित रचनाकार भगवानदास मोरवाल के व्यक्तित्त्व पर प्रकाश डाला जाएगा। जिसमें जन्म, बचपन, संस्कार, परिवार, शिक्षा, विवाह, मौलिक पुरस्कार एवं सम्मान तथा कृतित्व में उनके समग्र साहित्य का संक्षिप्त परिचय दिया गया हैं। अंत में निष्कर्ष दिए गए है। किसी भी लेखक की वैचारिक प्रतिबद्धता को समझने के लिए वह आवश्यक होता है।

तृतीय अध्याय: इक्कीसवीं सदी के स्त्री केंद्रित प्रमुख उपन्यासों का परिचय:

इस अध्याय के अंतर्गत इक्कीसवीं सदी में जो नारी केंद्रित उपन्यास प्रकशित हुए उन नारी केंद्रित उपन्यासों का संक्षिप्त परिचय दिया जाएगा। इस अध्याय के माध्यम से तुलनात्मक पद्धति पर प्रकाश डालना हमारा उद्देश्य था। लेखक के समकालीन रचनाकारों की दृष्टि नारी समाज के प्रति कैसी रही है, इस बात का अवलोकन होना आवश्यक था। इसलिए प्रस्तुत अध्याय को चुना है।

चतुर्थ अध्यायः शकुंतिका उपन्यास का तात्त्विक विवेचनः

किसी भी उपन्यास को सूक्ष्म दृष्टि से विवेचित-विश्लेषित करना हो तो उसके तात्त्विक मुद्दों पर विचार करना अति आवश्यक होता है। इस अध्याय के अंतर्गत 'शकुंतिका' उपन्यास के तत्त्वों के आधार पर किए गए विश्लेषण को दर्शाया जाएगा। इसके अंतर्गत कथानक, चरित्र चित्रण, संवाद योजना, देशकाल, वातावरण, उद्देश आदि का चित्रण किया गया है। प्रस्तुत उपन्यास आकार में लघु होते हुए भी अपने दृष्टिकोण को विस्तृत बनाता है।

पंचम अध्यायः शकुंतिका में अभिव्यक्त नारी चेतना के विविध आयामः

इस अभ्यास अंतर्गत भगवानदास मोरवाल कृत 'शकुंतिका' में अभिव्यक्त नारी चेतना के विविध आयामों को दर्शाया जाएगा। इसके अंतर्गत पारिवारिक, शैक्षिक, सामाजिक, अकादमिक, आर्थिक संघर्षों और चेतना के विविध आयाम आदि को दर्शाया गया है। नारी के बहुआयामी व्यक्तित्त्व और जीवन कार्य की सम्यक जाँच-पडताल इस अध्याय में की गई है।

उपसंहार एवं निष्कर्षः

उपरोक्त पाँचों अध्यायों का अध्ययन, विवेचन-विश्लेषण करने के उपरांत शोधकार्य का सारांश और महत्त्वपूर्ण निष्कर्षों को प्रस्तुत किया गया है। अंत में परिशिष्ट के अंतर्गत मूल आधार ग्रंथ, संदर्भ ग्रंथ, पत्र-पत्रिकाएँ इ. सामग्री की सूची जोड दी गई है।

कृतज्ञता ज्ञापन

यह लघुशोध प्रबंध के विषय चयन हेतु मेरे सामने बहुत बाधाएँ उत्पन्न हुई, फिर इन बाधाओं को दूर करते हुए मेरे गुरुवर्य आदरणीय डॉ. भगवान गव्हाडे जी ने मुझे प्रेरणा देते हुए यह मौलिक कार्य संपन्न करवा लिय यह उनके ही विद्वत्तापूर्ण निर्देशन का ही प्रतिफल है। उनके उचित मार्गदर्शन में ही मैंने यह शोधकार्य संपन्न किया है, उनके कृतज्ञता हेतु मैं हमेशा उनके ऋण में रहना पसंद करुँगी। मैं इतनी प्रार्थना करती हूँ की इनका आशीर्वाद हमारे सिर पर ऐसा ही बना रहें।

मेरे इस लघु शोधप्रबंध का कार्य करते समय विभाग के अन्य गुरुजनों का भी सहयोग मुझे मिलता रहा हैं। इस लघु शोधप्रबंध की सफलता के लिए विभागीय गुरुजनों में डॉ. सुधाकर शेंडगे सर, डॉ. भारती गोरे मॅडम, डॉ. संजय राठोड सर आदि अध्यापकों ने समय-समय पर मेरी सहायता की। उनके प्रति मैं अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।

अपने कष्टों और त्यागों से मेरे जीवन को पल्लवित करनेवाले, मेरे मनोबल को बढावा देनेवाले मेरे पिताजी श्री. जगन्नाथ धुमाळ, मेरी माँ शकुंतला धुमाळ और मेरी दोनों बहनें कल्पना शिंदे, सुनिता रिंढे और मेरे दोनों भाई दादाराव धुमाळ, विजय धुमाळ इन्होंने मेरा हमेशा हौसला बढाया इनके प्रति आभार व्यक्त करना मैं अपना परम उत्तरदायित्व समझती हूँ।

विवाह के पश्चात बना मेरा दूसरा परिवार जिसमें मेरे जीवन को नया आयाम प्रदान करनेवाले मेरे पति सुभाष बोरसे जी इनके प्रति मैं हमेशा श्रद्धावंत रहना पसंद करती हूँ। मेरे बेटे साई के नटखट बालक्रीडाओं से मुझे जीने को नई प्रेरणा मिलती रहती है। बेटे साई के प्रति भी बहुत-बहुत प्यार। विवाह के पश्चात मुझे मिले मेरे नये

आई- बाबा अर्थात मेरे पितातुल्य ससूर रुपचंद बोरसे जी तथा मातातुल्य सुमनबाई बोरसे जी के प्रति भी मैं आभार व्यक्त करती हूँ।

साथ ही हमारे हिन्दी विभाग के कार्यालयीन कर्मचारी श्रीमती शिल्पा जिरे मॅडम, श्री. अशोक बचके मामा तथा उषाताई जिनका हमें सदैव स्नेह और सहयोग मिलता रहा। उनके प्रति भी मैं आभार व्यक्त करती हूँ।

साथ ही मेरे शोधकार्य के दौरान जिन्ह स्नेहीजनों का सहयोग मुझे मिलता रहा उनमें डॉ. करिश्मा पठाण, डॉ. दैवत सावंत, प्रा. दत्ता किटाळे, डॉ. दिनकर सुरडकर आदि के लिए हार्दिक आभार व्यक्त करना मैं अपना परम कर्तव्य समझती हूँ।

शोध प्रबंध का विशुद्ध टंकन कर के मुझे इस लघु शोध प्रबंध से लाभान्वित करनेवाले मीडिया मल्टि सर्विसेस के सुनिल गिते इनके प्रति भी मैं आभार व्यक्त करती हूँ।

अत: मेरे शोधकार्य के दरम्यान प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप में जिन-जिन की मुझे सहायता प्राप्त होती रही, उन सभीं के प्रति मैं हार्दिक आभार व्यक्त करती हूँ।

शोध छात्रा

सविता जगन्नाथ धुमाळ

विषयानुक्रमणिका

अ.क्र.	शीर्षक	पृष्ठ क्र.
1.	मुखपृष्ठ	-
2.	प्रतिज्ञापत्र	i
3.	निर्देशक का प्रमाणपत्र	ii
3.	विशेष आभार	iii
4.	प्राक्कथन	iv- ix
5.	कृतज्ञता ज्ञापन	x-xi
6.	विषयानुक्रमणिका	xii
प्रथम अध्याय	भारतीय परंपरागत नारी का सामाजिक परिदृश्य: एक अवलोकन	1-26
द्वितीय अध्याय	भगवानदास मोरवाल का जीवन परिचय एवं रचनाएँ	27-74
तृतीय अध्याय	इक्कीसवीं सदी के स्त्री केंद्रित प्रमुख उपन्यास	75-114
चतुर्थ अध्याय	'शकुंतिका' उपन्यास का तात्त्विक विवेचन	115-147
पंचम अध्याय	'शकुंतिका' में अभिव्यक्त नारी चेतना के विविध आयाम	148-170
	उपसंहार	171-176
	संदर्भ ग्रंथसूची	177-180

प्रथम अध्याय

भारतीय परंपरागत नारी का सामाजिक परिदृश्य : एक अवलोकन

द्वितीय अध्याय

भगवानदास मोरवाल का जीवन परिचय एवं रचनाएँ

तृतीय अध्याय

इक्कीसवीं सदी के स्त्री केंद्रित प्रमुख उपन्यास

चतुर्थ अध्याय
'शकुंतिका' उपन्यास का तात्त्विक विवेचन

पंचम अध्याय

'शकुंतिका' में अभिव्यक्त नारी चेतना के विविध आयाम

उपसंहार

संदर्भ ग्रंथसूची

प्रथम अध्याय
भारतीय परंपरागत नारी का सामाजिक परिदृश्य : एक अवलोकन

भूमिका

1.1 भारतीय सामाजिक परिप्रेक्ष्य में नारी

1.2 पारंपरिक नारी का सामाजिक परिदृश्य

1.3 स्थितिशीलता और परिवर्तनशीलता की अवधारणा

1.4 परंपरागत नारी : पाश्चात्य एवं भारतीय परिदृश्य

1.5 भारतीय परिदृश्य में स्त्रीवाद की अवधारणा

1.6 प्राचीन भारतीय स्त्री

1.7 बौद्ध कालीन स्त्री और स्त्री मुक्ति की पहल

1.8 मध्ययुगीन स्त्री की पारंपरिकता

1.9 आधुनिक स्त्री और नारी चेतना

1.10 समकालीन भारतीय पारंपरिक नारी

प्रथम अध्याय
भारतीय परंपरागत नारी का सामाजिक परिदृश्य : एक अवलोकन

भूमिका :

साहित्य कृतियों में मनुष्य के भावात्मक संवेदनाओं का प्रतिबिंब दिखाई देता है। यह सिलसिला आदिकाल से चला आ रहा है। हमारी भारतीय पारिवारिक मानसिकता तथा वास्तविकता को उजागर करने में हिंदी उपन्यासकारों तथा विमर्शकारों का अच्छा योगदान रहा है। आज भी ग्रामीण समाज में और कुछ हद तक शहरी समाज में भी बेटियों को अभिशाप माना जाता है क्योंकि लोगों का मानना है कि बेटी पराया धन होती है। किन्तु वे अक्सर इस बात को भूल जाते हैं कि घर में रौनक बनाए रखने की किमया केवल घर की लड़की में ही होती है। माँ-बाप की सेवा करने में लड़कियां सबसे आगे होती हैं।

हमारा भारतीय समाज पुरूष मानसिकता का शिकार है किन्तु कुछ परिवार ऐसे भी दिखाई देते हैं जो इस तरह की बातों को दकियानुसी मानते हैं। बेटियों को बेटों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण मानकर उन्हें अधिक प्रेम देते हैं। स्त्रीभ्रूण हत्या जैसी पाशविक मनोवृत्ति ने समाज को खोखला किया है। आज भी यह प्रवृत्ति समाज में विशेष कर ग्रामीण समाज में अधिक बलवती होती दिखाई देती है । स्त्री-पुरूष यह साइकिल रूप संसार के दो पहिए होते हैं जिसके पिछले पहिए पर ही अधिक भार होता है । स्त्री इस पहिए की तरह होती होती है जो बिना थके बिना कोई शिकायत के इस भार को वहन करती है । वह एक नहीं बल्कि दो-दो कुलों का नाम रोशन करती हुई अपना फर्ज निभाती है। फिर भी हमारा समाज लड़की को उसके अधिकारों, हकों से वंचित रखता आया है । बदलते समय के साथ-साथ वैज्ञानिकता ने बहुत कुछ बदल दिया किन्तु इस मानसिकता को नहीं बदला जा सका ।

वर्तमान हिंदी साहित्य के उपन्यासों पर 'स्त्री विमर्श' को लेकर जब चर्चा होती है तो स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि आरंभिक उपन्यासों में जिन स्त्री समस्याओं को लिया गया था उत्तरोत्तर इसकी व्यापकता को विस्तार दिया जाने लगा । इसे हिंदी उपन्यासों की गुणात्मक वृद्धि भी कहा जा सकतका है । जिस साहित्य को फुरसती लेखन मानकर दर किनार कर दिया जाता रहा था, उसकी जाँच पड़ताल करने का कार्य वर्तमान विमर्शकारों और साहित्यकारों ने किया और स्त्री समस्याओं को अधिक विस्तार दिया ।

आधुनिक युग में स्त्रियाँ अपने अधिकारों के प्रति अधिक जागृत होती दिखाई देती है। उनके साक्षरता का दर भी बढ़ता गया । अब स्त्रिया घर की दहलीज लांघकर हर क्षेत्र में अपनी पहचान बना रही है । ऐसे माहौल में अब महिलाओं पर होनेवाले अत्याचारों तथा उनके शोषण को लेकर ही चर्चा होना उचित नहीं ठहरता है । क्योंकि इन समस्याओं का मूल उनमें व्याप्त अशिक्षा में ही निहित है। बेटी को बेटों से अधिक महत्त्व दिया जाना अपेक्षित ठहरता है तभी स्त्री-विकास का चरमोत्कर्ष देखा जा सकता है। इसकी एक झलक को भगवानदास मोरवाल के 'शकुंतिका' इस उपन्यास में देखा जा सकता है। वैसे तो भगवानदास मोरवाल के सभी उपन्यास स्त्री प्रधान ही है।

स्त्रियाँ साक्षर हुई कामकाजी और आत्मनिर्भर भी हो रही है किंतु भारतीय परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो इन कामकाजी एक आत्मनिर्भर स्त्रियों का प्रमाण केवल दो प्रतिशत है । एक स्त्री होने के यह दो प्रतिशत स्त्रियाँ भी स्त्री समस्याओं से अछुती नहीं होती है । इनको घर की तथा बाहर की दोनों जिम्मेदारियों का निर्वहन करना होता है । आत्मनिर्भर होने या अपने परिवार का खर्चा उठाने में सक्षम स्त्रियों को

अपने परिवारवालों से कहाँ तक आजादी मिल सकती है? इसका उत्तर नकारात्मक ही मिलता है।

इस सवाल से जुड़ा एक सवाल और भी है कि हम कब तक सिर्फ इस दो प्रतिशत की ही चर्चा करते रहेंगे? इन्हें भौतिक सुविधाए हैं, वे सुरक्षित है, आत्मनिर्भर है और बहुत हद तक आजाद भी है, जिसे वे अपनी खुशकिस्मती समझती है किन्तु वे अपनी दुनिया से बाहर झांकने की जरूरत महसूस नहीं करता है। उस विषय में सुधा अरोडा कहती है, ''यह रवैया वैसा ही है जैसे अपने घर की खिडकियों और दरवाजों को बंद कर हम बाहर की दुनिया से आँखें बन्द कर ले और कहें कि हमारे कमरे या हमारी हद में आनेवाली दुनिया ही सच है, बाहर की दुनिया सिर्फ अखबारों की दुनिया है, औरत की जिंदगी में घटनेवाला हर हादसा चन्द लाइनों की एक अखबारी रपट है। इसे अपेक्षाकृत बड़ी दुनिया तक पहुंचने के लिए हमें अपने घर की खिड़कियाँ खोलनी ही होगी। हमें इस दो प्रतिशत के विशिष्ट वर्ग की नहीं, आम और सामान्य औरत की बात करनी होगी।''[1] बदलते समय के साथ आम और सामान्य स्त्रियों को भी साथ लेने और सही अर्थ में सामाजिक दिशा में आगे बढ़ने का संदेश उपन्यासकार भगवानदास मोरवाल के इस उपन्यास में मिलता है। ''शकुंतला उपन्यास हमारी भारतीय मानसिकता एवं गलत रुढ़ि की वास्तविकता को उजागर करता है जिसमें बेटियों को अभिशाप और पराया धन माना जाता रहा है।''[2] स्त्री विमर्श को लेकर उपन्यासकारों ने अदभूत उपन्यास लिखें हैं। भगवानदास मोरवाल भी उन्हीं में से एक ठहरतें हैं। जो स्त्री समुदाय को समता की दृष्टि से देखते हैं।

बेटी का रिश्ता दुनिया का सबसे पाक और अजीज रिश्ता होता है। इस युग में जब दुनिया में परिवर्तन की हवा आयी है तब बेटियों ने भी अपने हूनर का अच्छा खासा प्रदर्शन किया है। सानिया मिर्झा, कल्पना चावला, सुनीता विलियम्स, बच्चेंद्री पॉल, किरण बेदी, पी.टी. उषा, इंदिरा गांधी से लेकर भारत के राष्ट्रपति पदों तक इन

बेटियों में फासला तय कर किया है। इनके अलावा भी ऐसे कितनेही नाम गिनाए जा सकतें है। बेटी होने का गर्व क्या होता है यह हम इन बेटियों के पिताओं के नजरिए से समझ सकतें है। इस संदर्भ में स्वामी विवेकानंद का कथन द्रष्टव्य ठहरता है। उन्होंने कहा था, ''बेटा सिर्फ एक कुल को तारता है लेकिन बेटी दो-दो कुलों को तारती है उनके प्रति पुर्णत: समर्पित रहती है। इन दो-दो कुलों का नाम रखती हुयी ये बेटिया क्या कुछ नहीं सहती? उपन्यासकारों ने इस द्विधा अवस्था का चित्रण कई जगहों पर किया है। विख्यात शायर मुनव्वर राना में बेटियों की इस अवस्था का चित्रण करते हुए अपनी एक गजल में लिखा है - ''घर में रहते हुए गैरों की तरह होती है, बेटियाँ धान के पौधों की तरह होती है। उड़के एक रोज बहुत दूर चली जाती है, घर की शाखों पर ये चिड़ियों की तरह होती हैं सहमी सहमी हुयी रहती है मकान-ए-दिल में, आरजूएँ भी गरीबों की तरह होती है।''[3]

1.1 भारतीय सामाजिक परिप्रेक्ष्य में नारी:

बीसवीं सदी के अंतिम दशक में स्त्री-जागरण का दौरा आया। स्त्रियों के अधिकार तथा हक, स्त्री-पुरुष समानता आदि को लेकर बड़े पैमाने पर साहित्य सृजन होने लगा। भारतीय संविधान में स्त्रियों को पुरुषों के बराबरी का हक दिया। साहित्यकारों विशेष कर उपन्यासकारों द्वारा स्त्रियों को उपन्यास -अत्याचार के खिलाफ जागृत करने की यह कोशिश थी जिस से स्त्री स्वयं को स्वावलंबी तथा अपने अस्तित्व की तलाश करने की दिशा में अग्रसर होती दिखाई देती है। हिंदी साहित्य के साथ-साथ अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य में भी स्त्री विमर्श परक साहित्य को जगह मिलने लगी थी। महाराष्ट्र में रमाबाई रानडे, आनंदीबाई जोशी, ताराबाई शिंदे और सावित्रीबाई फुले आदि स्त्री लेखिकाओं के साथ-साथ महात्मा ज्योतिराव फुले, महर्षि धों. के. कर्वे, गो. ग. आगरकर आदि लेखकों के प्रयास से स्त्री विषयक जागृती होने लगी थी। कुछ स्त्रियों ने विदेश को जाकर वहाँ के स्त्री जीवन को अनुभूत किया।

वहाँ की तुलना में भारतीय खास तौर पर पारंपरिक स्त्री कितनी पीछे हैं और इसके लिए पुरुषप्रधान कुटुंबव्यवस्था किस तरह से जिम्मेदार है इस विषयों पर अपनी कलम चलाई। आगे साहित्य की सभी विधाओं स्त्री जागृति परक लिखान होने लगा और साहित्य विधा में एक नया विमर्श 'स्त्री विमर्श' कहलाया।

1.2 पारंपरिक नारी का सामाजिक परिदृश्य :

वास्तव में देखा जाए तो स्त्री यह जन्मत: स्त्री नहीं होती बल्कि उसे स्त्री रुप में ढालने की प्रक्रिया उसे स्त्री बना देती है। सिमॉन द बोऊआ अपने सेकंड सेक्स में कहा है - 'No one is born a woman, one be comes one'[4] 'लिंग' और 'लिंगभाव' इन शब्दों के माध्यम से हम ही बात को अधिक स्पष्ट कर सकते हैं कि 'लिंग' यह जैविकशास्त्रीय वस्तु होती है जबकि लिंगभाव का संबंध समाज से होता है। लिंगभाव को स्त्री में जागृत करने के लिए धर्म, रुढी, परंपरा, शिक्षा, व्यवहार, आर्थिक-धार्मिक और सामाजिक व्यवहार, रिश्ते-नाते आदि कितने ही घटक अपनी भूमिका निभाते हैं। लड़का और लड़की की भिन्न प्रतिमाएँ इसी माध्यम से निर्माण होती है जो परंपरागत चली आ रही होती है। फिर इसे ही जैविक तथा नैसर्गिक बताया जाता है और धार्मिक विधियों, कर्मकाडों, व्रत-वैकल्ये के माध्यम से इस लिंगभाव को स्थीरस्थावर किया जाता है। इस प्रक्रिया से जो नारी की प्रतिमा खड़ी हो जाती है वह परावलंबी, दुय्यम, कमजोर, गृहकाज तक सीमित ऐसी पारंपरिक नारी के रुप में होती है। लिंगभाव निर्मिति के ये संस्कार लड़की पर जन्म से या यों कहें कि जन्म लेने के पहले स ही होने लगते हैं। परिणामत: निर्दयता से स्त्रीभ्रूणों की हत्याएँ होने लगी है। बचपन, किशोरावस्था, युवावस्था तथा वृद्धावस्था जीवन के इन सभी पडावों में यह लिंगभाव नारी का पीछा नहीं छोडता है।

विवाह के पहले तथा विवाह के बाद भी हर अवस्था में उस पर पुरुषी वर्चस्व बराबर बना रहता है। भविष्य में उसे जिस पत्नी तथा मातृत्व की भूमिका का निर्वहन

करना होता है उसी हद तक की शिक्षा उसे परंपरा से दी जाती है। नारी की स्थिति भारत में सदियों से अत्यंत शोचनीय रही है। जिसके लिए हमारे धार्मिक ग्रंथ जिम्मेदार हैं, जो पुरुषों को अधिक महत्व देते हैं।

1.3 स्थितिशीलता और परिवर्तनशीलता की अवधारणा :

भारतीय समाज व्यवस्था में स्थैर्य और परिवर्तन यह दोनों विशेषताएं मिलती है। भारतीय नारी के विषय में यह कहा जा सकता है कि जब तक उसके जीवन में कुछ विशेष प्रतिकूल परिस्थितियाँ नहीं आती तब तक वह परिवर्तन की बजाय है उसी अवस्था में स्वयं को सुरक्षित और सुखी महसूस करती है। परंपरा से चली आ रही इस धारणा का नारी पर इतना प्रभाव होता है कि वह आसानी से परिवर्तन की ओर नहीं झूक पाती। पारंपरिक मानसिकता को बदलना कोई साधारण कार्य नहीं होता है जिसे साहित्यकारों ने आसान करने का प्रयास किया है। इस दिशा में भगवानदास मोरवाल का प्रयास तारिफ के काबिल ठहरता है। एक और वह धर्म, जाति, प्रदेश, लिंगभाव के परंपरागत तीक्षण हत्यार को सीने से लगाए रहती है वही दूसरी ओर मानवता, बंधुता, समानता को विवेक के वैज्ञानिक धरातल पर निकष से चिकित्सक दृष्टि रखनेवाली नारी होती है जो बदलाव (परिवर्तन) चाहती है। वह पारंपरिक स्त्री के विपरित होती है। स्थितिशील समाजव्यवस्था की बागडौर थामने वाले पुरुष सत्ता केंद्रों पर से अपनी पकड छुटने के भय से इस बदलाव या परिवर्तन से दक्ष रहते हैं। परिवर्तनवादी दृष्टि उनके लिए मारक होती है अत: अपना वर्चस्व बनाए रखने हेतु मानवी भावना-संवेदना तथा विचारशक्ति को दृष्टिगत बनाया जाता है। इस वृत्ति की सबसे प्रभावी वाहक नारी ही होती है इस बात को भी वे जानते हैं। क्योंकि कौटुंम्बिक संस्कारों, विवाह आदि मातृत्व, घर, रिश्तें, नातें, रुढ़ि-परंपरा, रीति रिवाज तथा सामाजिक नीति-नियमन में नारी की भूमिका पुरुषों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण होती है। इस तरह उसे माँ, पत्नी, बहन, वधू, साँस आदि भिन्न भूमिकाओं में ही बंदिस्त

कर रखा जाता है। बहुत बार यह भी देखा जाता है कि स्वयं वह भी अपने आप को इन्हीं कठघरों में रखना पसंद करती है।

आधुनिकता के प्रभाव से स्थितिशील समाज को झकझोर कर रख दिया। नारी के जीवन में परिवर्तन की आवश्यकता को विचारशील लोग समझने लगे। इसी से स्त्री सुधारणा का पर्व सामने आया। परंपरागत नारी जीवन में चेतना आने लगी। स्त्री-पुरुष सम्बन्ध, विधवा पुनर्विवाहद्व सतीप्रथा, स्त्री-शिक्षा आदि के प्रति जागृति होने लगी। साक्षर होने के पश्चात भी कौटुंबिक तथा सामाजिक निर्णय प्रक्रिया से नारी को बाहर ही रखा जाता है। उसे चार दीवारों में ही बंदिस्त होकर रहने पर मजबूर होना पड़ता है, जिससे उसमें हीनभावना आती है। परिणामत: परंपरागत साधनों में अपने को व्यस्त बना लेती है। यही तो स्थिरतावादी चाहते हैं। आजकल गाँव-कस्बों के साथ-साथ शहरों की बस्तियों में तक सत्संग, इसी का उदाहरण कहें जा सकते हैं।

1.4 परंपरागत नारी : पाश्चात्य एवं भारतीय परिदृश्य :

भारतीय स्त्रीवाद के अंतर्गत परंपरागत नारी (स्त्री) का अध्ययन करने के लिए इस विषय को जानना आवश्यक ठहरता है। क्योंकि आज जिस स्त्रीवाद को राजकीय स्तर पर मान्यता मिली है उसे कई पड़ावों से गुजरना पड़ा है। तभी वह परिघ लांघकर केंद्र तक आ सकी है। इसके पीछे पाश्चात्य स्त्रीवादी आंदालनों की प्रेरणा रही है।

पाश्चात्य पृष्ठभूमि पर यदि देखा जाए तो ''स्त्रीवाद की सर्वप्रथम पहल करनेवाली मेरी बॉलस्टोनक्राफ्ट इसकी जनक ठहरती है। 'ए विंडिकेशन फॉर द राइट्स ऑफ वूमन' इस आलेख में उन्होंने स्त्री के हकों तथा अधिकारों की ओर सर्वप्रथम जनता को परिचित कराया। आगे एलिझाबेथ कँडी स्टॅन ने 'सेने का फॉल्स' की भा में यह घोषणा कर दी कि अब स्त्री खुद के भवितव्य का निर्णय खुद लेगी।''[5] उस समय स्त्रीवाद को पाश्चात्य पुरुषों ने भी प्रखर विरोध किया था। ''जॉन स्टुटर्ट मिल भी उन्हीं में से एक थे जिन्होंने पत्नी को 'गुलाम' की उपमा दी थी।''[6]

बीसवीं सदी के आरंभ में स्त्रीवाद को लेकर दो पुस्तकें महत्वपूर्ण रही जिनमें व्हर्जिनिया वुल्फ की 'ए रुप ऑफ वन्स ओन' और दूसरी सिमन-द-बुअर की 'द सेकंड सेक्स' थी जिसमें 'स्त्री के जन्म और उस पर होने वाले स्त्रीत्व के संस्कारों विषयक चर्चा हुई। बुअर ने आगे यह भी लिखा है कि, ''She is the incidental, the inessental as opposed to the essential he is the subject, He is the Absolute. she is the other.''[7]

जुलिया क्रिस्तिवा ने स्त्री को स्त्रीत्व की स्थिति में रखने के लिए पितृसत्ताक व्यवस्था को जिम्मेवार ठहराया उन्होंने कहा- ''स्त्रीत्व यह वो स्थिति है जिसे पितृसत्ताक व्यवस्था ने दोयम दर्जा दिया है। पुरुष प्रधान संस्कृति में अपनी मर्जी के अनुसार स्त्रियों को 'वेश्या' या आदिशक्ति इन दो वर्गों में विभाजित करके रखा है।''[8]

हेलन सिड के मतानुसार पुरुषी दृष्टिकोण से स्त्री महज नगण्य होती है। ''स्त्री याने नकारात्मकता (Negativity), विवेकहीनता तथा अंधकार का प्रतिक ही है।''[9]

इस पुरुष प्रधान संस्कृति में निवास करनेवाली स्त्री को उपेक्षित जीवन जीने के लिए बाध्य होना पड़ता है। इस वजह से वह अपना स्वाभिमान और आत्मविश्वास खोकर असमानता, असहायता, ग्लानी, स्वयं की पहचान को खो देती है क्योंकि वह अपने त्याग में ही अपना सर्वस्व मान बैठती है। शिक्षा से वंचित, इतिहास के पन्नों से बेदखल, मिथके, अंधश्रद्धाओं के पाश में जखडकर नारी जीवन यापन करती रही है। कला तथा अन्य शाखाओं में नारियों को कुछ अलग अंदाज में ही चित्रित किया गया है। अपने को सौंदर्य का साधन बनाने की वृत्ति उनमें भी बसी रहती है। पुरुषों को रिझाने के लिए साजशृंगार करना उनकी मर्जी रखना, घर-परिवार की सेवा करना यही तो वह चाहती है और इसी में वह अपने जीवन की सार्थकता समझती है। पुरुषों को आकर्षित करने के लिए साज-शृंगार करना, सँवरना आदि में ही नारी धन्यता मानती है इस बात की ओर संकेत करते हुए नोएमी वुल्फ ने 'द ब्यूटी मिथ' इस पुस्तक में

लिखा है - ''सौंदर्य के मिथक ने ही नारी के उपर अपना वर्चस्व दिखाने की पुरुषी वृत्ति को अधिक उकसाया है। यही वजह है कि नारी शारीरिक तथा मानसिक रुप से अशक्त होने लगी है। इस मानसिकता से नारी को यदि मुक्त होना हो तो उसे अपनी ओर देखने का स्वयं का नजरिया ही बदलना चाहिए।''[10]

उन्नीसवीं शताब्दी में युरोप में स्त्री विमर्शपरक साहित्य निर्माण होने लगा। खास कर उपन्यासों के माध्यम से यह कार्य अधिक प्रभावी था। अंग्रेजी के समीक्षकों ने भी इस बात को स्विकार किया है। एलेन, शोआल्टर ने अपने समीक्षात्मक निम्बन्ध में लिखा है - 'नारी की दुय्यम संस्कृति को उपन्यासकारों ने अपनी कृतियों में स्पष्ट किया है। स्त्रीवादी लेखन का औपन्यासिक धरातल पर अध्ययन करने पर इस लेखन को तीन हिस्सों में रखा जा सकता है। १) १८४० से १८८० तक का स्त्रीत्व को दर्शाने वाला चित्रण जिसमे पुरुष वर्ग द्वारा निर्धारित आदर्शों पर चलनेवाली नारी को चित्रित किया गया। २) १८८० से १९२० तक का स्त्रीवादी चित्रण आया है जिसमें नारी अपने हकों - अधिकारों के प्रति विद्रोह करती हुई दिखती है। ३) तीसरे हिस्से को १९२० से आधुनिक काल तक रखा गया है जिसे स्त्री (Female) कहा गया है। इसमें नारी अपने 'स्वत्व' को खोजती हुई चित्रित की गई है। वेस्च 'अनुभवों की अभिव्यक्ति करती दिखाई देती है। शोयॉल्टर ने स्त्रीवादी लेखन से योगदान देनेवाली स्त्रियों के साहित्य को 'रजाई' की उपमा दी है। अलग अलग कपड़ों को जोडकर जिस तरह रजाई बनाई जाती है उसी तरह लेखिकाओं ने अपने - अपने अनुभवों को जोडकर इस तरह का स्त्रीवादी लेखन किया है।''[11]

बीसवीं शताब्दी के समीक्षकों ने स्त्री-पुरुष लेखकों द्वारा प्रयुक्त होनेवाली भाषाओं के फर्क को व्यक्त किया। लूस इरीगरे तथा हेलन सीऊ आदि का मानना था कि, ''यदि स्त्रियों को प्रचलित पुरुष सत्ताक संस्कृति को आहवान देना है तो उन्होंने स्वयं की अपनी भाषा का प्रयोग करना आवश्यक है जिसे 'वूमन स्पीक' कहा जा

सकता है। स्त्रियों की भाषा के मूल में उनकी लैंगिकता (sexuality) होती है। लैंगिकता यह स्त्री-पुरुषों में अलग-होती है जैसे स्त्री की लैंगिकता अनिश्चित एवं केंद्र हीन और पुरुष की निश्चित एवं केंद्रित होती है। यदि इस फासले को मिटाना है तो स्त्रियों को अपनी भाषा का प्रयोग करना चाहिए तथा पुरुषप्रधान संस्कृति को दरार देने की शक्ति उनमें आ सकती है। आगे १९८० के बाद के समीक्षक स्त्रीवाद से जेंडर (लिंग) की ओर मुडते नजर आते हैं। स्त्री-पुरुष को केवल लैंगिकता के धरातल पर अलग-अलग चित्रित करने की अपेक्षा मानववंशशास्त्र, तत्त्वज्ञान, मनोविज्ञान और विज्ञान के धरातल पर उनके भेद-विभेद का स्पष्टीकरण किया जाना अपेक्षित है। इसे स्त्रीवादी दृष्टिकोण का विस्तार भी माना जाता है। बॉनी स्कॉट इस संदर्भ में लिखती है - ''लिंगभाव सिद्धांत (Gender Theory) के माध्यम से स्त्री और पुरुष के पारस्पारिक सम्बन्धों को अब वैश्विक धरातल प्राप्त हुआ है।''[12] अपनी बात को अधिक स्पष्ट करने के लिए उन्होंने समीक्षा में भी इस लिंगभाव के भेद को नकारने का दृष्टिकोन सामने रखा है। जेन फ्लेक्स ने स्त्रीवाद के विषय में अपने विचार स्पष्ट करते हुए कहा है - ''The Problematization of gender relationship is the single most advance in feminist theory''[13]

उत्तर आधुनिकता यह पाश्चात्य संस्कृति का प्रतिक बन गया है। स्त्रीवाद न अब इस भूमिका को स्विकार किया है कि लैंगिकता का शरीर से कोई संबंध नहीं माना जा सकता है। भले ही भेद-विभेद का मुद्दा बराबर बना रहा है, चर्चा का विषय भी रहा है। किन्तु अब उसके साथ स्त्री की सामाजिक तथा सांस्कृतिक पहचान को भी जोड़ा जाने लगा है।

१९८० को आसपास का स्त्रीवाद आधुनिक वैज्ञानिक तंत्रज्ञान के विषय में विश्लेषण करता नजर आता है, जिसमें 'प्रजनन' के विषय में गर्भधारणा में लिंग परिक्षण करना, टेस्ट ट्यूब बेबी, सरोगेट बेबी/मदर, अनावश्यक सिझरिंग करवाना,

गर्भपात कराना आदि कितनी ही समस्याओं को लेकर उपन्यास साहित्य लिखा जाने लगा, उन पर समीक्षा होने लगी, विमर्श होने लगा। इन सबसे बड़ी और गंभीर बात थी गर्भ में ही स्त्री-भ्रूण हत्या की समस्या। तंत्रज्ञान के इन सभी खोजों ने स्त्रीवादियों को नयी समस्याओं के घेरे में लाया। इनकी वजह से स्त्री शरीर, स्त्री मन के साथ उसके मातृत्व की भी अवहेलना होने लगी। स्त्रीभ्रूण हत्याओं का प्रमाण इतना बढा कि विश्वभर में यह चर्चा का विषय बन गया। मातृत्व को स्विकारने या नकारने का हक स्त्रियों से छिना गया। माइकल स्टॅनवर्थ ने लिखा है कि, ''इस नए तंत्रज्ञान के विषय में कुछ ठोस निर्णय लने का वक्त आ गया है। मातृत्व विषयक सभी अधिकार स्त्री को देने चाहिए। साथ ही अपने शारीरिक एवं लैंगिक, प्रजनन आदि के विषय में निर्णय लेने का भी उसेही हक अधिकार होना चाहिए।''[14]

इस तरह से स्त्रीवाद के विषय में पाश्चात्य परिप्रेक्ष्य देखने को मिलता है। साहित्य पर समकालीन सामाजिक परिस्थितियों एवं संस्कृति की छाप रहती है। प्रस्तुत संशोधन के लिए चुना गया 'शकुंतिका' उपन्यास में स्त्री भ्रूणहत्या के साथ-साथ ग्रामीण जीवन में विशेषकर स्त्रियों में व्याप्त अंधश्रद्धाओं का भी विस्तार दिया गया है।

1.5 भारतीय परिदृश्य में स्त्रीवाद की अवधारणा :

वैसे देखा जाए तो भारतीय स्त्रीवाद यह अध्ययन का एक व्यापक और स्वतंत्र विषय ठहरता है। भारतीय सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक परिस्थितियाँ प्रगत, या पाश्चात्य देशों से भिन्न है यहि वजह है कि यहाँ का स्त्रीवाद भी अलग-अलग समस्याओं से घिरा है। साहित्य में हम कितने ही विमर्श देखते हैं। स्त्री विमर्श, दलित विमर्श, आदिवासी विमर्श आदि। स्त्री विमर्श का मुख्य विषय वह स्त्रीवाद है जिसमें स्त्रियों की विभिन्न समस्याओं पर विमर्श होता रहा है। किसी भी वाद को आरंभ में विरोध ही सहना होता है। किन्तु यदि उस वाद की जडे वहाँ की संस्कृति से जुड़ी हुई हो तो उस वाद को पालने पोसने में पारंपरिक अवधारणाएँ प्रेरणा ही देती है।

इसीलिए समाज और सामाजिक परंपराओं को छोडकर किसी साहित्य का अध्ययन किया जाना असंभव प्रतित होता है। अत: स्त्रीवाद के अध्ययन में पारंपरिक स्त्री का अध्ययन होना अनिवार्य ठहरता है।

सन 1975 इस वर्ष को जब आंतरराष्ट्रीय स्त्री वर्ष और आगे स्त्री दशक घोषित कर दिया गया तब भारतीय धरातल पर स्त्री मुक्ति के विषय में अनेक सवाल उठने लगे। और धीरे-धीरे स्त्री मुक्ति, स्त्री स्वातंत्र्य, स्त्रीविमर्श, स्त्रीवाद ये शब्द हमारे यहाँ रुढ हो गए। स्त्रीवाद यह पाश्चात्य अवधारणा हाने से और भारतीय समाजव्यवस्था एवं कुटुम्ब व्यवस्था पश्चात्यों से भिन्न होने से भारतीय धरातल पर इस स्त्रीवाद को जैसा है वैसा ही उसके मूल रुप में नहीं स्वीकारा गया। जबकी अन्याय-अत्याचार पश्चात्य और भारतीय स्त्री पर बराबर होते थे किन्तु स्त्री का भारतीय परिप्रेक्ष्य देखते हुए यह भी स्पष्ट दिखाई देता है कि यहाँ के स्त्री की बनावट में यहां कि संस्कृति और यहाँ के ऐतिहासिक संदर्भों को भी देखना आवश्यक है।

मूलत: भारतीय समाज संयुक्त परिवार के सामाजिक मूल्य पर खड़ा हुआ है। संयुक्त परिवार की स्त्रियों को घर में वही दर्जा मिलता जौ जमीनदार के यहा जमीन कसनेवाले किसानों का होता है। पारंपरिक परिवारों में सतही तौर पर दिखाई देने वाले सौहार्द पूर्ण संबंधों के पीछे उस परिवार का कर्ता-पुरुष होता है, उसकी निरंकुश सत्ता होती है। परिवार के सभी सदस्यों को वह अपने धाक मे रहता है। इसलिए परिवार की स्त्रियों को नीची आँख किए अधिकारहीन, परजीवी सा जीवन बिताने के लिए विवश होना पडता है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में नारी जीवन की विवशता को स्पष्ट करते हुए सुधा अरोडा ने अपने शोध आलेख में लिखा है - ‘‘स्त्री विमर्श को लेकर हमारे यहाँ बहुत सी भ्रांतियां है। सबसे बडी भ्रांत यह है कि स्त्री विमर्श मान लिया गया। मुक्ति में भी स्त्री के लिए देह की मुक्ति को सर्वोपरी माना गया। स्त्री सशक्तिकरण, स्त्री जागरूकता का प्रसार करने के लिए एक कारगर औजार है। हमारे समाज में नारी

मुक्ति के बारे में दो मिथ प्रचलित है। एक तो यह कि नारी-मुक्ति का तात्पर्य पुरुष वर्चस्व या अधिपत्य से मुक्ति है। दरअसल यह मुक्ति सामाजिक संरचना और रुढिगत संस्कारों में होती है। वर्चस्व तो उस सामाजिक संरचना की ही एक प्रशाखा है''[15] सुधा अरोड़ा के आलेख से लिया गया यह वक्तव्य सार्थक सिद्ध होता है। उपन्यासों में तथाकथित स्त्री विमर्श बौद्धिक स्तर के ही लोगों तक जा सकता है - आम स्त्रियों तक या जिन स्त्रियों को जागरूक करने की खास आवश्यकता होती है उन तक पहुँच ही नहीं पाता। यह कार्य स्त्री संगठनों, स्त्री विमर्शकारों द्वारा आयोजित राष्ट्रीय चर्चासत्रों से अधिक सशक्त रूप से हो सकता है। क्योंकि आलेखों, टिप्पणियों या छोटे-छोटे एक पृष्ठीय स्तंभों में हम स्त्रियों को कैसा होना चाहिए इसकी प्रेरणादायक अभिव्यक्ति कर सकते हैं, जो कथा साहित्य या उपन्यासों के द्वारा नहीं हो सकता है। इसके लिए स्त्री - साक्षरता के प्रतिशत को अधिकाधिक बढाना होगा।

भारतीय परिप्रेक्ष्य में स्त्री विमर्श को देखा जाए तो यह स्पष्ट रुप से कहा जा सकता है कि स्त्री-विमर्श को लेकर यहाँ 'फेमिनिस्ट' शब्द एक तरह से गाली के जैसा ही प्रयुक्त किया जाता रहा है। भारतीय स्त्रियों में भी कुछ हद तक यह देखा जा सकता है वे भी इस शब्द का परहेज करती हुयी दिखाई देती है। 'फेमिनिस्ट' होने का अर्थ होता है कि आम औरतों के प्रति एक जुड़ाव या सरोकार का होना। कोई भी पढा - लिखा और संवेदनशील व्यक्ति शोषित, पीडित स्त्रियों के प्रति अपना उत्तरदायित्व निभाने हेतु फेमिनिस्ट (स्त्रीवादी) होने से इन्कार नहीं कर सकता है। इसें हम एक कारगर औजार के रुप में इस्तेमाल कर सकते हैं।

1.6 प्राचीन भारतीय स्त्री :

भारतीय समाज पुरुषप्रधान होने से यहाँ स्त्रियों को दोयम स्थान दिया गया है। भारत में ही नहीं बल्कि सारे विश्व में जन्म देने की विशेष क्षमता होने के कारण स्त्री को 'सृष्टा' कहा जाता रहा है। आर्यों के आने से पहले यहाँ की स्त्री घर की कर्ता-धर्मा

होती थी। वह 'सृष्टा' होने के कारण गृह की सत्ता केंद्र में वही होती थी। खेती करने की प्रेरणा के मूल में भी स्त्री ही रही है। आगे श्रम के कार्य पुरुष करने लगने से कृषि क्षेत्र के कार्य स्त्री से पुरुष के ओर आ गए और उसे गृह काज में झोंक दिया गया। इस तरह से धीरे-घरे सत्ता का केंद्र बदल कर पुरुष की ओर आता गया और पुरुषप्रधान समाज व्यवस्था का उदय हो गया। इसलिए धर्मग्रंथों में लिखा है कि -

''यत्र नार्यस्तु पुज्यंते

रमन्ते तत्र देवता''

इस सुक्त के अनुसार तत्कालीन नारी कितनी पूजनीय थी यह समझा जा सकता है। उस समय में उसे स्वयं का वर (स्वयंवर) चुनने की सहुलियत पायी जाती है जिसके कितने ही उदाहरण इतिहास में मिलते हैं। आगे आर्यों के भारत में आ जाने से नारी की पूजनीय अवस्था को बंदिस्त कर दिया गया। भेदभाव करने वाली वर्णव्यवस्था का निर्माण किया गया। वर्णाश्रम में भी नारी को कहीं का भी नहीं रखा गया। उसे बेदखल किया गया। उसे शुद्रातिशूद्र करार दिया गया। क्योंकि उसका कोई वर्ण या कोई भी आश्रम इन स्मृति ग्रंथों में नहीं बताया गया है। स्त्री की प्राच्यकालीन प्रतिमा को नष्ट कर उसे अपनी प्राथमिक आवश्यकताओं, जरुरतों से तक वंचित कर दिया गया। वैदिक काल में उसे कडे बंधनों में रखा गया। इसके प्रमाण तुलसीदास के रामचरितमानस में मिलते हैं -

'ढोल, गँवार, शूद्र, पशु नारी।

ये सब ताड़न के अधिकारी।'

''समूचे जगत को राममय माननेवाले तुलसी दास ने ढोल, गँवार, शूद्र, पशु आदि के साथ नारी को भी ताड़न (शिक्षा) का अधिकारी कह दिया है।''[16]

इस तरह के दोहरे और विसंगत चित्रण को देखने पर कहा जा सकता है कि भारतीय समाज में परंपरा से नारी की प्रतिमा एक ओर सती, सावित्री, देवी, वंदनीय

सृष्टा माता आदि के रुप में सामने आती है वही दूसरी ओर वेश्या, विधवा, पतिता, तिरस्कारी इस रुप में भी सामने आती है। वर्णव्यवस्था ने स्त्री को पौरोहित्य, खेती और राज्य सभी से वंचित कर दिया। आर्यों ने यहाँ की स्त्रियों को पत्नी भी बनाया किन्तु उसे केवल उपभोग की वस्तू मात्र ठहराया। उनकी भाषा, धर्मविधी और संस्कारों आदि से दूर ही रखा था। संस्कृति के वहन में उसे प्रयुक्त किया गया किन्तु दासी मात्र बनाकर ही रखा था। कई हजारों वर्षों तक स्त्री को इसी हाल में जीवन यापन करना पड़ा।

वैदिक काल में नारी अवस्था हीन-दीन ही रही थी। अपवाद के तौर पर ऋषि-कन्याओं को शिक्षा मिलती थी जिनमें गार्गी, मैत्रेयी के साथ कुछ अन्य स्त्रियों आती है जिन्होंने वेदों के कुछ मंत्रों की रचना भी की है। बाकी स्त्रियाँ पशुवत, ताड़न की अधिकारीणी ही रही थी।

मनुस्मृति के तिसरे तथा नववे अध्याय में 'स्त्री को स्वातंत्र्य देना किसी भी हाल में इष्ट नहीं' ऐसा कहा गया है। मनुस्मृति में स्त्रियों पर किस तरह के बन्धन थे इसे कुछ नियमों के आधार पर स्पष्ट किया जाता है -

नियम क्र. 2-215 :

पुरुष को अपनी माता, भगीनी तथा कन्या आदि के साथ एकान्त में रहना त्याज्य है। क्योंकि इंद्रियों की प्रबलतावश स्त्रिया ज्ञानवान पंडितों को भी अपने जाल में फसाती हैं।

नियम क्र. 9-15 :

स्त्रियों को पर पुरुषों के प्रति इतना अधिक आकर्षण होता है कि पति द्वारा पहरा देने पर भी वे इच्छित पुरुष के साथ व्याभिचार करती है। इतनी वह चंचल और निर्दयी होती है। विश्वासघातकी होती हैं।

नियम क्र. 9-2 :

परिवार के पुरुषों को जरूरी है कि अपनी स्त्रियों को अपने पर ही निर्भर रखे। स्त्रियाँ यदि वैषयिकता की ओर बढ़ती हैं तो उनको अपने धाक-दपट में ही रखें।

नियम क्र. 9-3 :

इस नियम में स्त्री को किसी भी अवस्था में स्वतंत्र नहीं रहने देने की बात कही है। 'नच स्त्री स्वातंत्र्य मर्हते' बचपन में स्त्री का पालनपोषण पिता करता है। यौवन में पति उसका रक्षण करता है और वृद्धावस्था में उसे बेटों का आधार होता है।''[17] श्रृती-स्मृतियों में इस तरह से स्त्री को मात्र उपभोग की वस्तू बनाकर रखने के लिए इस तरह के नियम जबरन स्त्रियों पर लादे गए। 'वेदं वाक्यं प्रमाणम' कहकर उसका विरोध करनेवालों को दंडित किया जाता रहा।

1.7 बौद्ध कालीन स्त्री और स्त्री मुक्ति की पहल :

ई. स. पूर्व 500-600 के युग को बौद्ध काल माना गया है। स्त्रियों की अवनती जो वैदिक काल से बीसवीं सदी तक चली आ रही थी। उसमें बौद्ध काल को अपवाद माना जा सकता है। बुद्धकाल में वैदिक संस्कृति हिंदू संस्कृति में तब्दील हो चुकी थी और आर्यों की जगह ब्राह्मणों ने ले ली थी। धर्माडम्बर इतने बढ गए थे कि स्त्री - शुद्रों को पशुवत समझकर व्यवहार होने लगते। ऐसी स्थिति में 'मनुष्य ने मनुष्य से मनुष्यता का व्यवहार करना चाहिए' इस तरह का तत्त्वज्ञान लेकर गौतम बुद्ध का आगमन हुआ। जो सामान्य जनों को विषमतवादी हिंदू तत्त्वज्ञान से अच्छा लगने लगा। अपनत्व का लगने लगा। कितने ही स्त्री पुरुषों ने बुद्ध धम्म स्विकार किया। यहाँ उन सभी को प्रव्रज्जा (ज्ञानप्राप्ति की स्वतंत्रता) दी जाती थी। वर्ण व्यवस्था को कोई जगह नहीं दी जाती थी। उनकी माता महाप्रजापती गौतमी ने स्त्रियों को भी धम्म की दिक्षा देने और प्रव्रज्जा देने की मांग की और ''अपनी इस माँग को पूरा करने के लिए उन्होंने करीब 50 स्त्रियों का पहला लाँग मार्च निकाला जो

कपिलवस्तु से निकाला था और वैशाली तक चल पडा था। स्त्री मुक्ति के संदर्भ में विश्व स्तर पर देखा जाए तो यह लाँग मार्च स्त्री मुक्ति का आरंभ माना जा सकता है।''[18] इस मार्च को वैश्विक स्तर से स्त्री मुक्ति का पहला केंद्र ठहराने से महाप्रजापती गौतमी स्त्रीमुक्ति आंदोलन की उद्‌गाता ठहरती है। इस मार्च के प्रमाण भी मिलते हैं। क्योंकि इस माँग को लेकर तथा स्त्रियों को भी दीक्षा देने की माँग को लेकर बुद्ध के प्रिय शिष्य आनंद और गौतम बुद्ध के बीच चर्चा हुयी और आखिरकार स्त्रियों को धम्म दीक्षा और प्रव्रज्जा देने का निर्णय भी लिया गया। प्रवज्जीत होने के बाद के अपने अनुभवों को इन स्त्रियों (थेरियों) ने थेरी गाथाओं में व्यक्त भी किया है। 'थेरी गाथाओं' को स्त्रियों द्वारा लिखित आदिकाव्य माना जाता है।' यह लिखित रुप में उपलब्ध होती है। इस काल में विभिन्न जाती-वर्ण की स्त्रियों ने प्रव्रज्जा लेने के लिए धम्म की दीक्षा ली थी और मनुप्रणित धर्म बंधनों से उनकी जंजिरों से आजाद होकर मुक्ति की साँस लेने लगी थी। पारंपरिक बन्धनों को त्यागकर स्वयंप्रकाशित होने की, मुक्ति की राह चलने वाली भारतीय स्त्री को बुद्ध काल में देखा जा सकता है।

1.8 मध्ययुगीन स्त्री की पारंपरिकता :

मध्ययुगीन भारतीय समाज की संरचना कुछ ऐसी थी कि जिसमें स्त्री को व्यक्ति रुप में स्थान ही नहीं दिया गया था। बालविवाह, बहुपत्नीत्व, सतीप्रथा, भोगदासी के रुप में ही स्त्री को इस्तेमाल किया जाने लगा। इसके लिए स्त्री को धर्म के नाम पर डराया- धमकाया भी जाता रहा। धर्म ग्रंथों ने स्त्री को किसी भी तरह के विधी में क्रियाशील होने की अनुमति न देने से स्त्री की उपेक्षा ही होती रही।

भारतीय इतिहास में हम देखते हैं कि हर काल विशेष में जहाँ स्त्रियों को त्रासदी से गुजरना पडा उसी तरह कुछ कालखण्डों में स्त्रियाँ स्वतंत्रवृत्ति धारण करती हुई भी दिखाई देती है। जहाँ सामान्य स्त्रियाँ धर्मग्रंथों की शर्तों से बंधी, कुंठीत दबी-कुचली रही थी वही कुछ असामान्य स्त्रियाँ परंपराओं के बंधन से मुक्त होकर

असामान्य कार्य करती हुयी भी पाई जाती है। वैदिक काल में भी गार्गी, मैत्रेयी और कात्यायनी जैसी स्त्रियाँ अपने कार्य-कर्तृत्व से महान हो गई थी। बुद्ध काल में जीस तरह थेरियों को स्त्री मुक्ति याने पुरुष सत्ता से मुक्त और आत्मसम्मानी, स्वाभीमानी होने की दिशा में अग्रेषित किया गया उसी तरह मध्ययुगीन संत साध्वियाँ या संत स्त्रियों को भी स्त्री मुक्ति के उद्‌गाता माना जा सकता है। भले ही इनकी स्त्री मुक्ति की कल्पना अध्यात्मिक से जुड़ी थी और धर्म के आडम्बरों ने उन्हें कितना ही छला हो किन्तु उनकी श्रेष्ठता को मिटाना उनके बस में नहीं था। स्त्री की इस घृणित अवस्था पर भाष्य करते हुए उपन्यासकार भगवानदास मोरवाल कहते हैं - ''आखिर ऐसी अवधारणा हमारे समाज में बनी क्यों? मेरी दृष्टि में इसका बड़ा कारण हमारे ज्यादा तर धर्मग्रंथों में स्त्री को हेय दृष्टि से देखना रहा है। उसकी (स्त्री की) क्षमता पर पुरुष समाज को कभी भरोसा नहीं रहा। कहने को हम लाख कहें कि 'यत्र नार्यस्तु पुज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता', लेकिन वास्तविक जीवन में उसका अनुपालन कितना होता है यह हम अच्छी तरह जानते हैं।''[19] आखिरकार हम परंपरागत दृष्टिकोन ही अपनाते चले जाते हैं, जो हजारों वर्षों से चली आ रही है।

मध्ययुगीन स्त्री सामाजिक परिवेश के अनुरुप पारंपरिक साँचे में आबद्ध ही पायी जाती है। एक उपभोग्या वस्तू, सहगामीनी के रुप में स्त्री को अपने पतिव्रत्य को निभाने के लिए बाध्य दिया जाता है। पति के अन्याय-अत्याचारों को झेलती वह अपना जीवन यापन चार दीवारों में कैद होकर करती चली जाती है। अपने पुरुष को प्रसन्न एवं खुश रखने के लिए साज-शृंगार करना, उसका कहा मानना, इस तरह के पुरुष अधिपत्यों का निर्वहन करनेवाली पारंपरिक स्त्रियाँ मध्ययुगीन समाजव्यवस्था में मिलती है। साथ ही भोग लिप्सा में रत स्त्री-पुरुष भी इस युग में बड़ी संख्या में थे जिसका वर्णन मध्यकालीन सन्तों के साहित्य में मिलता है। भक्तकवि तुलसीदास जी ने

रामचरितमानस के उत्तरकांड में मध्ययुगीन स्त्री की अवस्था का चित्रण इस प्रकार किया है -

''अबला कच भूषण भूरी छुधा
धनहीन दु:खी ममता बहुधा।
सुख चाहहिं मूढ न धर्म रता ।
मति थोरि कठोरि न कोमलता।।''[20]

अर्थात नारियों के बाल ही भूषण हैं, मन में केश सँवारने, काँच आदि के गहने पहनने की बहुत अधिक भूख अथवा इच्छा रहती है। क्योंकि वो धनहीन हुआ करती है। पराश्रित होने से उसके पास धन का अभाव होता ही है। इसलिए उसका मोह और ममता का भाव इच्छित वस्तूएं न पाने से व्यथित पीडित होकर रह जाता है। तुलसीदास ने यहाँ मध्ययुगीन नारी का पारंपरिक चित्रण किया है। दूसरी ओर तुलसीदास उसे 'ताडन का अधिकारी भी कहते हैं। इसके पीछे समकालीन सामाजिक स्त्री की दयनीय अवस्था रही है। रामराज्य की कल्पना करने का कारण यही था। मध्य युगीन भारत विदेशी आक्रमणों, आंतरिक गृह कलह, धर्माडम्बर आदि से ध्वस्त होने की कगार पर था। उनके स्त्री पात्र भी परंपराओं का निर्वहन हुए करते दिखाई देते हैं। रामचरित मानस में जहाँ सीता को 'स्वयं' का वर चुनने का स्वातंत्र्य है वही पति की आज्ञा से उसे गृहत्याग करके जंगल में जाने पर मजबूर होना पड़ता है, किन्तु वह सामाजिक परंपराओं का निर्वहन करती है। मध्ययुग में भारतीय समाज में परस्त्री परपुरुष गमन का प्राबल्य दिखता है। दूसरी ओर तुलसीदास पर धर्मग्रंथों का अधिक प्रभाव होने से स्मृति - श्रुति के नियमों को वे स्त्रियों के लिए बाध्य माननेवाले दिखाई देते हैं। 'धर्म-कर्म-रत नर और नारी' इस तरह वे नारी को धार्मिक कर्म में रत रखने की कल्पना करते हैं। दूसरे अर्थों में नारी को 'पारंपरिक नारी' ही होकर रहना चाहिए इस तरह के भाव उनके काव्य में आएँ हैं जिससे मध्ययुगीन स्त्री की पारंपरिकता स्पष्ट

होती है। सदियों से परंपराओं की जंजिरों में जकडी नारी के जीवन में (कुछ अपवाद छोडकर) किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो पाया। वह पूर्णत: विडम्बनापूर्ण जीवन जी रही थी।

धर्म के ठेकेदारों ने मनुप्रणित समाज व्यवस्था को पुनर्जीवित किया था और स्त्री को उसके देह विषयक क्रियाकलापों तक ही सीमित कर या समेट कर रखने में कामयाब हो गए थे। स्त्री को उसके मस्तिष्क तक पहुंचने ही नहीं दिया गया। इस युग में स्त्री को मोक्ष के मार्ग में आनेवाली मुश्किल या पत्थर, मायामोह की जननी, पापयोनी, नरक का द्वार आदि उपमानों द्वारा छला गया।

1.9 आधुनिक स्त्री और नारी चेतना :

भारतीय परिप्रेक्ष्य में स्त्री मुक्ति के आंदोलन भले ही बुद्ध के काल से आरंभ हुए हो किन्तु सन 1875 का दशक ही स्त्री मुक्ति का दशक कहलाया गया है। विश्वभर में भी इसी दशक को स्त्री मुक्ति का दशक माना गया है। भारतीय स्त्रीवाद पर पाश्चात्य स्त्रीवाद के प्रभाव को स्पष्ट देखा जाता है। हजारों सालों की रुढीग्रस्त परंपराओं को नकारने वाला एक वर्ग धीरे धीरे पनपने लगा। मिशनरियों के प्रयास से स्त्री-पुरुष दोनों के लिए शिक्षा के द्वारा खोल दिए गए। धर्मशास्त्र में शिक्षा का अधिकार जो केवल ब्राह्मण वर्ग को दिया था उसे दरार पडी। श्रुति-स्मृतियों के माध्यम से जो दहशत समाज में व्याप्त थी, विचारों के प्रयासों से उसकी जडें हिलाकर रख दी गई। वह कार्य आसान नहीं था। हजारों सालों की परंपरा को तोडने और धर्म ग्रंथों से भिडने का साहस स्त्रीवादी सुधारकों ने किया था। ब्रिटिश काल में बाह्य रुप से या उपरी तौर पर भले ही अंग्रजों का शासन था किन्तु भारतीय समाज मन पर अभी भी श्रुति-स्मृति के नीतिनियमों का ही प्रभाव था। शिक्षा से स्त्री जागरुक होकर धर्म ग्रंथों के विरोध में जाने की आशंका धर्म के ठेकेदारों को होने से वे बार बार स्त्री शिक्षा का

विरोध ही करते रहें और स्त्री पर नियंत्रण रखने के लिए बालविवाह, सतीप्रथा, केशवपन आदि के बंधनों में जकड कर रखने का प्रयास किया जाता रहा।

रसोई घर से शैया घर तक ही स्त्री को बंदिस्त होना पड़ा। अपने परिवार में ही वह कैदी होकर रह गई। बालविवाह की प्रथा का प्रचलन होने से उससे अनेक समस्याएँ स्त्री को भुगतने पर विवश होना पडा था। बालविधवा होने पर किसी आप्त स्वकिय पुरुष द्वारा उसका भोग किया जाता तो कभी बालविधवा से ही गलती हो जाती। परिणामों को उसे ही भोगना पडता था। पुरुष आसानी से अपने आप को अलग कर लेने में सफल होते थे। सूरी पर सेब पडे या सेब पर छूरी दोनों हालातों में परिणाम सेब को ही भुगतने होते हैं करिबन यही अवस्था स्त्री की थी, परिणामत: उस अबला स्त्री को उन संबंधों से प्राप्त अर्भक को या तो कही फेंक देने पर विवश होना पडता था या फिर उसे मार दिया जाता था। इस तरह की कितनी ही घटनाएँ समाज में हो रही थी। इस तरह की भ्रूण हत्याओं को रोकने के भी समाज सुधारकों ने प्रयास किए। जिनमें महात्मा जोतिबा फुले तथा सावित्रीबाई फुले का योगदान महत्वपूर्ण है। इन्होंने इ.स. 1833 मे बालहत्या प्रतिबंधक गृह एवं प्रसुतिगृह की स्थापना की। इस गृह का 1884 तक करिबन 35 बालविधवावों को लाभ हुआ था। धार्मिक, सांस्कृतिक डर के कारण भ्रूण हत्याएं ग्रामीण विभाग में अधिक था। इस तरह की समस्याओं से स्त्री इस युग में त्रस्त दिखाई देती है।

1.10 समकालीन भारतीय पारंपरिक नारी :

अंग्रेजी शासन व्यवस्था के शिक्षा के प्रति उदार भाव से सामाजिक मूल्यों को फिर से टटोलने की जरूरत महसूस होने लगी। तर्क और बुद्धि से होनी थी। स्त्री शूद्रों में अपने उपर होनेवाले अन्याय-अत्याचार के प्रति जागृति होने लगी। परंपरा की जंजिरों को तोडने के प्रयास होते रहें। 19वीं शती के उत्तरार्ध में सुधारवादी युग आया और स्त्री उद्धार की दिशा में प्रयास होने लगे। राजाराम मोहन रॉय, स्वामी दयानंद

सरस्वती आदि के प्रयासों से सती प्रथा बंदी का कानून पारित हुआ। विधवा पुनर्विवाह को मान्यता मिली। पंडिता रमाबाई ने 'शारदासदन' के माध्यम से विधवाओं तथा कुमारियों को शिक्षित करने का कार्य किया। धों. के. कर्वे ने विधवा आश्रम और स्कूल खोले। महाराष्ट्र में महात्मा फुले ने 1848 में पहली स्त्री शिक्षण संस्था व स्कूल खोल दी जिसमें सावित्रीबाई को पहली स्त्री शिक्षिका होने का सम्मान मिला। शिक्षा के द्वारा ही हमें मनुष्यत्व प्राप्त होता है इस धारणा को स्त्रियाँ बखूबी जानने लगी थी।

आजादी के बाद भी 1950 तक स्त्री शिक्षा गतीमान होती रहने पर भी सामान्य स्त्री के मन पर परंपरा का परदा पडता रहा ऐसा दिखाई देता है। ऐसी हालत में सुधारवादी वर्ग ने अपने प्रयास जारी रखे और उत्तर आधुनिकता के दौर तक भारतीय स्त्री मानस में हम कितने ही परिवर्तनों को देख सकते हैं। ये परिवर्तन परंपराओं को छेद देने के बाद ही संभव हो सके हैं। अत्याधिक भौतिकवादी आकर्षण ने कुछ हद तक स्त्रियों को भोगवादी बना दिया है। इसलिए कुछ लोग इसे स्वातंत्र्य का अतिरेक भी समझते हैं। ऐसे लोगों को यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि स्त्रियों के स्वातंत्र्य की हदें या सीमाएँ तय करने का अधिकार उनको किसने दिया है? इस विषय में डॉ. श्रीलता विष्णु का कथन है कि, ''पुरुष जो सर्वनियंता है और स्त्री जो सर्वहारा है ऐसी सोचवाले लोग यही मान बैठते हैं कि स्त्री का सम्मान तभी तक सुरक्षित है। जब तक वह किसी समर्थ पुरुष की छाया बनी हुई है। असल में नारी यह पुरुष की जागीर नहीं उसके साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर चलने में सक्षम है। घर और बाहर की हर परिधि में अपनी शिनाख्त बनाए रखने के लिए अपने परिवार से, पुरुष प्रजाओं से सहानुभूति की नहीं सहकार्य की अपेक्षा रखती है।''[21]

सारांशः

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि आनेवाले समय में नारी की भूमिका पारंपरिकता से हटकर बदलती हुई सामने आएगी। वह अपने परिवारिक, सामाजिक,

आर्थिक तथा धार्मिक विषयों पर अधिक से अधिक ध्यान दे सकेगी। इतना ही नहीं बल्कि राजनीति जैसे क्षेत्र में भी अपनी विद्ववत्ता और दूरदर्शिता का परिचय दे सकेगी। क्योंकि नारी के सर्वांगिन विकास से ही एक स्वस्थ परिवार और समाज की स्थापना हो सकती है। यदि नारी ही परंपरागत रीति-रिवाजों और अंधविश्वास पर निर्भर रहेगी तो आनेवाली संतानें भी मानसिक रूप से अपाहिज रह जाएगी। इसलिए महिलाओं को वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपना कर विकास की प्रक्रिया में आगे बढ़ना होगा।

संदर्भ सूची

1. 'अब नजर अंदाज नहीं किया जा सकता' - सुधा अरोड़ा - 1980 नंतरचे स्त्री-निर्मित कथपरक साहित्य - सम्पा. पुष्पलता राजापुरे - तपास में संकलित आलेख. प्रका. मुंबई विद्यापीठ तथा शब्द प्रकाशन - पहिली आवृत्ती -2010, पृ. 236
2. सम्पा. अनिल सिंह - 'शकुंतिका : सृजन और दृष्टि', लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गांधी मार्ग, प्रयागराज, पहला संस्करण - 2021, पृ. 27
3. मुनव्वर राना - फिर कबीर, रुपांकन प्रकाशन, किला रोड इन्दोर, प्रथम संस्करण - 2007, पृ. 108
4. Simone de Beauvoic, 'The Second sex'. Penguin London, 1952, P. XVI
5. एलिजाबेथ कँडी - 'स्टँशन क्वोटेड इन फेमिनिज्म' थिअरी क्रिटिसिज्झ Analysis by- सुशिला सिंग पेनक्राफ्ट इंटरनॅशनल पब्लिकेशन्स दिल्ली - 1997, पृ. 04
6. जॅन स्टुअर्ट मील - 'द सब्जेक्शन ऑफ वूमन', एम. आय. आय. प्रेस लंदन, कँब्रिज - 1869, पृ. 57
7. सिमॉन द बुअर - 'द सेकंड सेक्स' पेंग्विन पब्लिकेशन, लंदन, 1952, पृ.16

8. जुलिया क्रिस्तेवा - टोरिल मोइस - के 'सेक्सच्युअल -टेक्सच्युअल पॉलिटिक्स में थेयुन, प्रकाशन - लंदन से उद्धृत 1985, पृ. 167
9. हेलन सिडज (Helene sxous) sorties out and Attacks / ways out in the feminist Reader, सम्पा. कॅथरीन बॅलसे व जेन हुरे मैकमिलन प्रकाशन, लंदन, 1997, पृ. 26
10. नोएमी वुल्फ, द ब्युटी मिथ, रॅडम हाऊस पब्लिकेशन्स, लंदन, पहला संस्करण 190, पृ. 18
11. एलेनी शॉल्टर - 'ए लिटरेचर ऑफ देअर वोन : ब्रिटिश वूमन नॉवेलिस्ट फ्रॉम ब्रोंटे टू लेसिंग' प्रिंस्टन युनिवार्सिटी प्रेस - प्रिंस्टन, 1978, पृ.11-12
12. बॉनी किमे स्कॉट, द जेंडर ऑफ मॉडर्निजमा, ए क्रिटिकल अँथोलॉजी', इंडियाना युनिवर्सिटी प्रेस, ब्लूमिंगटम, 1990, पृ. 2
13. जेन फ्लेक्स, 'पोस्टमॉडरिज़म अँड जेंडर रिलेशन्स इन फेमिनिस्ट थिअरी, जर्नल - वून अँड कल्चर व्हॅल्यूम 12, क्र. 4, समर -1987, शिकागो युनिवर्सिटी प्रेस, पृ. 627
14. माइकेल स्टूनवर्थ, रिप्रॉडक्विव टेक्नॉलॉजिज टेम्परेरिंग विथ नेचर इन फेमिनिजम', सँड्रा कॅम्प, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफोर्ड, न्यूयॉर्क, 1997, पृ. 474
15. सम्पा. पुष्पलता राजापुरे - तापस '1980 नंतरचे स्त्री -निर्मित कथनपरक साहित्य', (मराठी, हिंदी, गुजराती, सिंधी) राष्ट्रीय चर्चासत्र (14,16,16, फेब्रुवारी 2008) में संकलित शोध निबंध से उद्धृत, प्रकाशक - मुंबई विद्यापीठ, एवं शब्दालय, प्रथम संस्करण, 2010, पृ. 243

16. श्रीशरण, 'तुलसीदास : व्यक्तित्व और कृतित्व' आधुनिक प्रकाशन, मौजपुर, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2002, पृ. 139
17. डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर, हिंदू स्त्रियांची उन्नती व अवनती', सुमेध प्रकाशन, पुणे, 2 ऑक्टोबर 2006, पृ. 19
18. डॉ. सुशीला मुल जाधव, भ. बुद्ध, डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर आणि भारतीय स्त्री, कौशल्या प्रकाशन, औरंगाबाद, पृ. 33
19. सम्पा. डॉ. अनिल सिंह, शकुंतिका : सृजन और दृष्टि, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गांधी मार्ग, प्रयागराज, पहला संस्करण, 2021, पृ. 12
20. श्रीशरण तुलसीदास : व्यक्तित्व और कृतित्व, आधुनिक प्रकाशन, मौजपुर, दिल्ली, प्र सं. 2002, पृ. 174
21. सम्पा. डॉ. अनिल सिंह, शकुंतिका : सृजन और दृष्टि, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गांधी मार्ग, प्रयागराज, पहला संस्करण, 2021, में संकलित श्रीलता विष्णु का शोध आलेख, पृ. 208

द्वितीय अध्याय

भगवानदास मोरवाल का जीवन परिचय एवं रचनाएँ

भूमिका

2.1 भगवानदास मोरवाल का व्यक्तित्व :

2.1.1 जन्म एवं जन्मस्थान

2.1.2 शिक्षा - दीक्षा

2.1.3 विवाह

2.1.4 नोकरी

2.1.5 रुचियाँ

2.1.6 प्रेरणा

2.2. भगवानदास मोरवाल : कृतित्व :

2.2.1 आरंभिक लेखन या लेखकीय पहचान

2.2.2 भगवानदास मोरवाल के उपन्यास

2.2.3. काला पहाड़

2.2.4 बाबल तेरा देस में

2.2.5 रेत

2.2.6 नरक मसीहा

2.2.7 हलाला

2.2.9 खानज़ादा

2.3 कथा साहित्य :

2.3.1 सिला हुआ आदमी (1986)

2.3.2 सूर्यास्त से पहले (1990)

2.3.3 अस्सी मॉडल उर्फ सूबेदार (1997)

2.3.4 सीढ़ियाँ, माँ और उसका देवता (2008)

2.3.5 लक्ष्मण रेखा (2010)

2.3.6 दस प्रतिनिधि कहानियाँ (2004)

2.4 कविता संग्रह :

2.4.1 दोपहरी चूप है (1990)

2.5. बालसाहित्य :

2.6 पुरस्कार एवं सम्मान

2.7 सम्प्रति

सारांश :

द्वितीय अध्याय
भगवानदास मोरवाल का जीवन परिचय एवं रचनाएँ

भूमिका :

हिंदी साहित्य और साहित्यालोचना को गहरे अर्थों में प्रभावित करनेवाले भगवानदास मोरवाल उपन्यासकार के रुप में हिंदी साहित्य जगत के एक सशक्त हस्ताक्षर माने जा रहें हैं। किसी लेखक के बहुआयामी रचनाओं से परिचित होने से पूर्व उसके बहुआयामी व्यक्तित्व को जान लेना अत्यंत आवश्यक ठहरता है। क्योंकि लेखक के समग्र व्यक्तित्व को समझे बिना हम उनकी रचनाओं को ठीक-ठीक तरह से समझ नहीं पाते हैं।

जिस परिवेश तथा परिस्थितियों में लेखक जीवन यापन करता है उसका प्रभाव उसकी रचना में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रुप में परिलक्षित होता ही है। अपने इसी जीवनानुभवों से प्रेरणा लेकर लेखक साहित्य कृतियों का सृजन करता है। इसलिए सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक तथा राजनीतिक आदि भिन्न स्तरों पर लेखक के विचार या भावनाओं को जानना जरूरी होता है जो उसके व्यक्तित्व के अध्ययन द्वारा संभव हो पाता है।

समकालीन हिंदी कथा साहित्य में भगवानदास मोरवाल का नाम बडे आदर से लिया जाता है। उनके द्वारा लिखे गए उपन्यास एवं कहानियाँ पाठकों के मन-मस्तिष्क पर सीधा असर करती है। इसकी वजह है उनके लेखन में आनेवाली विषय वैविधता और उनकी लेखन प्रतिभा।

साहित्य का मूल उद्देश्य व्यापक और व्यावहारिक जीवन की व्याख्या समाज को ही स्वीकार की जाती है। कोई लेखक जिस प्रकार के सामाजिक परिवेश में जन्म लेता है और उसमें पलकर बडा होता है उसी परिवेश में शरीर के साथ-साथ उसके

मन मस्तिष्क का भी विकास होता है। उसी से प्रभावित होकर उसी के अनुरुप उसके व्यक्तित्व का निर्माण भी होता है।

सामान्य चरित्र या व्यक्तित्व के लोग समकालीन परिवेश या परिस्थितियों के अच्छे-बुरे प्रवाहों में प्राय: बह जाया करते हैं, पर कुछ लोग जो असमान्य व्यक्तित्व वाले होते हैं वे इस तरह के प्रवाह अर्थात् बुरे प्रवाह में न तो स्वयं बहते हैं बल्कि अन्य को भी बहने से बचाने का प्रयास करते हैं। भगवानदास मोरवाल एक ऐसा ही व्यक्तित्व सिद्ध होता है जो समाज को उसकी कुंठित परंपराओं, कुप्रथाओं तथा कुरीतियों से अवगत कराना चाहता है।

किसी प्रान्त विशेष की संस्कृति, बोली भाषा, आचार-व्यवहार, रीतिरिवाज आदि को लेकर उपन्यास लिखने की फणिश्वरनाथ रेणु की परंपरा को उनके उपन्यासों में देखा जा सकता है। कुछ हदों तक भले ही 'काला पहाड़' जैसे उपन्यास आँचलिकता के धरातल पर नहीं उतरते हो किन्तु उसे इस प्रकार की लेखन परंपरा से दूर भी नहीं रखा जा सकता।

साहित्य के क्षेत्र में कई महान साहित्यकारों को देखा जा सकता है। जिन्होंने सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक तथा अन्य क्षेत्रों में अग्रेषित होकर रचनाएँ लिखकर अपना योगदान दिया है। अपने जीवनानुभवों को समाजोन्मुख करने का एकमात्र माध्यम केवल साहित्य होता है। इसी तरह की साहित्यिक रचना में अपना अमूल्य योगदान देनेवाले कथाकार एवं उपन्यासकार भगवानदास मोरवाल का नाम आदर एवं गौरव के साथ लिया जाता है।

2.1 भगवानदास मोरवाल का व्यक्तित्व :

साहित्यकार भगवानदास मोरवाल के जीवन एवं व्यक्तित्व का अध्ययन करने पर हम उन्हें एक विशिष्ट व्यक्तित्व के रुप में देख सकते हैं - ''यह भी मान्यता है कि साहित्य में सर्जक कलाकार का व्यक्तित्व ही प्रतिफलित हुआ करता है।''[1]

आलोचकों द्वारा किया गया यह कथन औरों के विषय में सत्य साबित होता हों या नहीं, किन्तु भगवानदास मोरवाल के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के विषय में यह निश्चित सत्य साबित होता है।

किसी भी व्यक्ति की सही पहचान उसकी व्यक्तिगत रुचियों, पारिवारिक संस्कार और सामाजिक परिवेश के साथ उनके द्वारा निर्मित कृतियों के आधार पर होती है। अत: यह कहा जा सकता है कि 'व्यक्तित्व' किसी व्यक्ति के सम्पूर्ण मानसिक और शारीरिक संगठन का नाम है। इस सम्बन्ध में डॉ. के. पी. जया ने 'उपन्यास की आलोचना' में लिखा है - ''परिवेश हर व्यक्ति को मिलता है, किन्तु उसे भोगने की प्रक्रिया में हर किसी की अलग-अलग निर्माण या विघटन संभव होता है।''[2]

वास्तव में एक व्यक्ति के संपूर्ण व्यक्तित्व निर्माण में प्रथमत: उसके परिवारिक संस्कार, आस-पास का परिवेश और समकालीन सामाजिक परिस्थितियों का योगदान महत्वपूर्ण होता है। भगवानदास मोरवाल के व्यक्तित्व निर्माण में इन सभी बातों की अहम भूमिका दिखाई देती है, जिससे वह खुद को सिद्ध कर सकें हैं। अत: यह कहना अनुचित नहीं होगा कि जब कोई रचनाकार अपने व्यक्तित्व के साथ रच-बस कर और घुल-मिलकर कोई रचना करता है तब वह कृति एक अनायास अभिव्यक्ति के रुप में उभरकर सामने आती है। उससे स्वाभाविकता के साथ प्रवाहमयता भी आती है। कुछ इसी तरह के भाव उपन्यासकार भगवानदास मोरवाल के उपन्यासों को पढ़कर पाठक के मन में उठना स्वाभाविक है। 'काला पहाड़' से लेकर 'खानज़ादा' तक के कुल नौ उपन्यास लिखकर भगवानदास मोरवाल ने अपनी उपन्यास लेखन की क्षमता को स्पष्ट किया है, इसमें कोई संदेह नहीं है।

2.1.1 जन्म एवं जन्मस्थान :

भगवानदास मोरवाल का जन्म हरियाना राज्य में जिला मेवात के अंतर्गत आनेवाले नगीना नामक छोटे से कस्बे में 13 जनवरी 1960 में हुआ। घर के हालात

खस्ता होने से मेहनत-मजदूरी करके गुजर बसर करनेवाले मोरवाल परिवार इस कस्बे में भगवानदास जी के परदादा द्वारा की गई जमीन पर रहते थे।

मेवात शहर का ऐतिहासिक महत्व रहा है। यह दिल्ली से महज चालीस कि. मी. की दूरी पर है। राजधानी के इतने करीब होकर भी मेवात के गाँव विकास से कोसों दूर रह हैं। यहाँ 'मेव' जनजाति के लोग रहने से इसका नाम मेवात पड़ा। आगे मुस्लिम शासनकाल में इन्हें जबरन इस्लाम बनाया गया और यह समूची जमात मुस्लिम हो गई किन्तु उन्होंने अपने संस्कार नहीं छोड़े। मुस्लिम बहुल होने से और साम्प्रदायिक तान-तनाओं के कारण इसे 'मीनी पाकिस्तान भी कहा जाता है और राजधानी दिल्ली में यदि खुन-खराबों की घटनाएँ होती है तो सर्वप्रथम मेवातियों पर शक किया जाता है।

सोलहवी शताब्दी में बाबर ने भारत पर आक्रमण किया तब मेवात के हसन खान मेवाती का प्राबल्य था। बाबर ने उन्हें प्रलोभन दिखाकर महाराणा सांगा के विरोध में उसका साथ देने के लिए कहा क्योंकि वे दोनो भी मुस्लिम थे। किन्तु हसन खाँ मेवाती ने बाबर के इस प्रस्ताव को ठुकराया और महाराणा सांगा को अपना जमिनी भाई कहकर युद्ध में उनका साथ थी दिया। पानीपत के 1527 के युद्ध में उनको वीरगती मिली थी। इसी मेवात की धरती पर भगवानदास जी का जन्म हुआ।

2.1.2 शिक्षा - दीक्षा :

मनुष्य के जीवन में शिक्षा-दीक्षा का एक अलग महत्व होता है क्योंकि यह एक ऐसी शक्ति होती है जिससे मनुष्य अपना आंतरिक एवं बाहरी विकास एक साथ कर पाता है। शिक्षा के कारण मनुष्य में व्यवहारिक ज्ञान की वृद्धी होती है। डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर ने शिक्षा का महत्व बताते हुए कहा था कि यह (शिक्षा) शेरनी के दूध जैसी होता है, जिसे पिनेवाला दहाडे बगैर नहीं रहता। भगवानदास जी का साहित्य इसी 'दहाड़' की अनुंगूज सा प्रतित होता है। जहाँ शिक्षा अन्याय-अत्याचार

के खिलाफ आवाज उठाने में सहायक होती है वहीं वह मनुष्य को नम्रता, वैचारिकता एवं संस्कार भी देती है जिससे वह सामाजिक विकास में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन भी कर पाता है। शिक्षा से स्वयं का विकास ही नहीं बल्कि हमारी पूरी कौम का विकास करनेवाली क्षमता जो डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर में थी कुछ अंश तक अपने मेवाती भाइयों के प्रति इसी विकास की अवधारणा को भगवानदास मोरवाल में देखा जा सकता है। इस अर्थ में वे मेवातियों के जननायक भी ठहरते हैं। यदि वे शिक्षा-दीक्षा ग्रहण न करते तो यह सब करने की क्षमता कहाँ से आती?

मनुष्य प्राथमिक शिक्षा के माध्यम से पढ़ना-लिखना सिखता है। माध्यमिक तथा उच्च माध्यमिक शिक्षा प्राप्ति के दरमियान वह अपने भविष्य के विषय में सोच विचार करता है। मनुष्य के भविष्य निर्माण में तथा उसके वैचारिक विकास में महाविद्यालयीन शिक्षा का महत्वपूर्ण योगदान रहता है। इस तरह से मनुष्य जीवन में शिक्षा के महत्व को देखा जा सकता है। शिक्षित होने पर ही कोई अपने समाज में व्याप्त कुप्रथाओं, कुपरंपराओं, अंधश्रद्धाओं के प्रति समाजबांधवों को जागरूक कर सकता है और उनपर होनेवाले अन्याय-अत्याचार के खिलाफ उन्हें लडने की दिशा में अग्रेषित कर पाता है। इस तरह देखा जा सकता है कि शिक्षा ही वह माध्यम है जिससे मनुष्य के व्यक्तित्व में अमुलचूल सुधार आता है, व्यक्ति का आत्मविश्वास बढ़ता है। इस तरह ज्ञान के क्षितिज को खोलने वाले द्वार की तरह शिक्षा मनुष्य जीवन में एक बहुत महत्वपूर्ण योगदान देती है।

भगवानदास मोरवाल का जन्म एक साधारण मजदूरी करनेवाले परिवार में हुआ। उनका बचपन 'नगीना' इस छोटे से कस्बे में ही बीता। प्राथमिक - माध्यमिक तथा उच्च माध्यमिक शिक्षा नगीना के राजकीय हाइयर स्कूल से प्राप्त करने के बाद महाविद्यालयीन शिक्षा प्राप्त करने के लिए महू के 'यासीन मेव डिग्री कॉलेज में प्रवेश लिया। यहाँ से बी. ए. की उपाधि प्राप्त करने के बाद उन्होंने राजस्थान विश्वविद्यालय

से एम. ए. की उपाधि हासिल कर ली। एम. ए. करते हुए उन्होंने उर्दू भाषा ज्ञान का कोर्स भी पुरा कर लिया।

2.1.3 विवाह :

सामाजिक संस्था में विवाह जैसे संस्कारों को अत्यधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। भगवानदास मोरवाल जिस सामाजिक परिवेश में पले-बढे वह समाज वर्तमान की 'लीव इन' जैसी अवधारणाओं से कोसों दूर है। आज भी इस तरह की कल्पना तक यहाँ के लोग नहीं कर सकते क्योंकि मेवातियों के अपने संस्कार होते है और उन्हीं में एक महत्वपूर्ण संस्कार होता है विवाह संस्कार समाज व्यवस्था एवं आत्मविश्वास में विवाह संस्कार का अपना अलग अस्तित्व होता है।

रुढ़ी, परंपराओं से ग्रस्त एक मजदूर परिवार के सदस्य होने से उसी के अनुसार भगवानदास जी को रहना पड़ा और शादी की उम्र होते ही परिवारावलों में उनका विवाह कर दिया। उनकी पुत्री मैथ्या ने भी पिता के नक्शे कदम पर चलकर हिंदी साहित्य में एम. ए. किया है और वर्तमान में वह भी साहित्य लेखन कर्म से जुड़ी हुई है।

2.1.4 नोकरी :

एक साधारण मजदूरी करनेवाले परिवार में जन्म लेनेवाले भगवानदास जी को अपने जीवन में कितना ही मुश्किलों का सामना करना पड़ा। प्रतिकूल अवस्था होने के बावजूद भी पढ़ने की अपनी महत्वाकांक्षा को वे पूरा कर सके हैं। जहाँ किताबी शिक्षा खत्म होती है वहाँ से जीवन की शिक्षा का सही मायने में आरंभ होता है क्योंकि इस अवस्था में व्यक्ति अपनी शिक्षा द्वारा अपने उदर-निर्वाह के साधन जुटाने में प्रयासरत रहता है। पिता के जाने से भगवादनदास जी की जिम्मेदारियाँ भी बढ़ गई थी और वे अब तक कुछ खास नहीं कर पाए थे। अत: अपनी पारिवारिक भूमिका के निर्वहन में उन्होंने जो साध्य हो सके वे सारे कार्य किए। बहुमुखी प्रतिभा के धनी भगवानदास

मोरवाल ने समयानुसार अपने आप को ढाल दिया। विवाहोपरान्त आंरभिक दिनों में उन्होंने कंपनी में मजदूरी करके, परिवार की सहायता की। आगे 1987 इ. सन में उनको महिला एवं बाल विकास मंत्रालय के केंद्रीय समाज कल्याण बोर्ड में तृतीय श्रेणी के पद पर नोकरी मिली और परिवार के जीविका का साधन जूट गया।

अपने संजीदगी, मृदूभाषिता एवं कडी मेहनत के बल पर इसी विभाग में उन्होंने बहुत तरक्की भी की उसके बाद 'उपनिदेशक' के राजपत्रित अधिकारी के पद पर कार्यरत रहते हुए कुछ माह पहले ही सेवानिवृत्ति ले ली। आज वे अपना काफी समय अपने परिवार के साथ एवं साहित्य सृजन में व्यतित कर रहें हैं।

2.1.5 रुचियाँ :

बचपन से ही खेल कूद के साथ-साथ काव्य लेखन में रुचि बढ़ने लगी और भगवानदास मोरवाल जी ने कुछ कविताएँ भी लिखी। किन्तु आगे कविता लेखन को दुर्लक्षित कर साहित्य की अन्य विधा कहानी तथा उपन्यास में अपना योग दान किया जो काफी सराहनीय सिद्ध हुआ।

महिला एवं बाल विकास मंत्रालय से जुड़े संस्थान में नोकरी करते हुए भी भगवानदास जी का लेखन कार्य जारी था। अपनी लेखन रुचि को उन्होंने बरकरार रखा था। और एक सफल उपन्यासकार के रुप में अपनी पहचान भी वे सेवा में रहते हुए ही कर पाए थे।

उनके उपन्यासों को पढ़कर पाठक उनके ऐतिहासिक तथा खोजपरक रुचि से भी अवगत होता है। खास तौर पर उन्हें अपने जमीन से ज्यादा लगाव दिखाइ देता है। अपने मेवाती (मेहात शहर का वासी) होने का उन्हें अभिमान है। इस मेवात की विशेषता को एक साक्षात्कार में व्यक्त करते हुए उन्होंने एक दोहा भी पेश किया था।

''इत दिल्ली उत् आगरा,

उत मथुरा, बैराठ।

मेरो कालो पहाड़ सुहावनो

जाके बीच बसे मेवात।''[3]

मेवातियों की एक प्रगल्भ ऐतिहासिक परंपरा रही है जिसे जानने-समझने की जिज्ञासा में भगवानदास मोरवाल की रुचि उत्तरोत्तर बढती रही और उनका लेखन में अधिक प्रभाव आने लगा। उसी के साथ अपने प्रांत की सांस्कृतिक वैविध्यता आदि में भी इनकी रुचियाँ पायी जाती है।

2.1.6 साहित्य लेखन की प्रेरणा :

हर एक व्यक्ति को बडा करने में किसी ना किसी मार्गदर्शक का हाथ होता है जिसे व्यक्ति अपना आदर्श मानता है, वही उसका प्रेरणास्त्रोत भी होते हैं। उसी तरह भगवानदास मोरवाल के प्रथम प्रेरणास्त्रोत उनके माता-पिता है। किसी क्षेत्र विशेष में अपनी स्वतंत्र पहचान बनानेवालों के पीछे कितने ही लोग प्रेरणास्त्रोत बनकर खड़े हुए होते हैं। तभी तो किसी क्षेत्र विशेष में मनुष्य कुछ अच्छा, बड़ा कार्य कर सकता है, जिससे अपने साथ वह अपने परिवार, अपने दोस्तों तथा समाज को तक प्रभावित कर पाता है।

अपने को मिली लेखन विषयक प्रेरणा का स्पष्टीकरण देते हुए भगवानदास मोरवाल जी ने कहा है - ''लड़कपन के दौरान नगीना निवासी भगवानदास मोरवाल जो अब गुडगाव में रह रह रहें है, उनके प्रेरक रिटायर्ड हेडमास्टर प्रेमचंद आर्य रहें हैं।''[4] भगवानदास जी का लेखन के प्रति जो अत्याधिक रुझान बढा था, उसके पिछे इन्हीं की प्रेरणा थी, यह स्वयं लेखक ने स्विकारा है। अत: माता-पिता के बाद लेखल की दिशा में लेखक को प्रभावित करने वाले ये दूसरे व्यक्ति ठहरते हैं।

हम जिस परिवेश में रहते हैं उस परिवेश की घटनाएँ, वहाँ की संस्कृति, वहाँ का विकास या पिछडापन आदि भी लेखक के लिए प्रेरणास्त्रोत हो सकते हैं। विवाहोपरांत भगवानदास मोरवाल जी रोजी-रोटी की तलाश में दिल्ली आए। यह

उनके काफी संघर्षमय दिन थे। अपने रोजमर्रा जिंदगी से निजात पाकर कुछ समय के लिए भगवानदास जी 'मोहनसिंह पॅलेस के कॉफि हाऊस' में आते जाते रहे, जहाँ नामचीन लेखकों से परिचित होते रहें और उनके साथ समय बिताना अच्छा लगने लगा। ये सभी लेखक जो उन्हें इस दौरान कॉफी हाऊस में मिले थे, उन्हें भी प्रेरणादायी हस्तियों के रुप में स्वयं भगवानदास जी स्विकारते हैं। इन सभी लेखकों के साथ समय बिताना काफी हद तक उपयोगी ठहरता है।

एक ओर उनके निर्वाह का साधन नोकरी के रुप में मिल गया था, वहीं बचा हुआ समय व्यतित करने का ठिकाणा भी मिला था। यहीं से उनकी साहित्यिक अभि रुचियाँ बढ़ती रही और वे लेखन की ओर खिंचते चले गए।

विख्यात कथाकार अरुण प्रकाश के साथ हुए अपने साक्षात्कार में भगवानदास मोरवाल ने अपने प्रेरणा स्त्रोत के विषय में बताते हुए कहा कि, ''मेरा बचपन मेवात में गुजरा वहीं सामाजिक, सांस्कृतिक संस्कार हुए और मेवात के इस सांस्कृतिक गठजोड को पाठकों तक पहुँचाने की इच्छा मन में तीव्र हो उठी, तभी से लिखने लगा।''[5]

एम. ए. करने के बाद भगवानदास जी ने राजस्थान में ही पत्रकारिता में डिप्लोमा हासिल कर लिया था। आगे विवाह के बाद रोजी-रोटी की तलाश में जब वे दिल्ली को आए थे तब इसी पत्रकारिता का उन्हें सहारा मिला था। प्रारंभ में उनकी शुरुआत पत्रकारिता से हुई किन्तु यह काम करते समय उनकी लेखकीय प्रतिभा का भी विकास होता रहा। अत: यह कहा जा सकता है कि पत्रकारिता से भी उन्हें लेखन क्षेत्र में प्रेरणा मिली थी।

2.2. भगवानदास मोरवाल : कृतित्व :

किसी लेखक का अस्तित्व या पहचान उसके द्वारा रचित रचनासंसार पर निर्भर होता है। उसके सामाजिक तथा राष्ट्रीय योगदान को भी इसी परिदृश्य से देखा जा

सकता है। अपने सामाजिक उत्तरदायित्व को निभाने में लेखक कुछ न कुछ नवनिर्माण करने की दिशा में अग्रेषित होता है। लेखक के इस लेखकीय प्रवास को जानने एवं समझने के लिए उसके समग्र लेखकीय कृतियों को समझना अत्यावश्यक ठहरता है।

साहित्यिक विश्व में साहित्यकार का कृतित्व लेखक की ही अपनी अनुकृति होती है और यही माना जाता रहा है। लेखक या साहित्यकार की आंतरिक प्रेरणा तथा सामाजिक आग्रह एक निश्चित दिशा में उसके कृतित्व के माध्यम से उभरकर हमारे सामने उपस्थित होता है।

मेवात की खामियाँ एवं उपलब्धियों से पाठकों के सम्मुख रखने की मनिषा रखकर निस्वार्थ वृत्ति से भगवानदास जी ने साहित्य निर्माण किया है। सामाजिक समस्याओं के प्रति सजग रहनेवाला इन्सान जब अपनी आंतरिक प्रेरणा से सजग हो जाता है, तब उसके द्वारा होनेवाला सर्जक कार्य उस समाज के लिए प्रेरणादायक हो जाता है।

जीवन के कटु यथार्थ को भोगना यह मानवी जीवन की नियती है। इस यथार्थ से प्राप्त अनुभवों को अभिव्यक्ति देना यह प्राप्त अनुभवों को अभिव्यक्ति देना यह मानवी स्वभाव ही रहा है। इसी की परिणती विभिन्न कलाओं में होती रहती है। किसी भी साहित्यकार के व्यक्तित्व को उसके लेखकीय दायित्व, भावपक्ष एवं कलापक्ष में देखा जा सकता है।

उपरी विवेचन को जानने और समझने के लिए भगवानदास मोरवाल द्वारा लिखी गई रचनाओं पर प्रकाश डालना अत्यंत आवश्यक है। उनके सर्जन कार्य में कहानी लेखन, उपन्यास लेखन, काव्य लेखन, संस्मरण तथा बाल साहित्य आदि का समावेश किया जा सकता है।

2.2.1 आरंभिक लेखन या लेखकीय पहचान :

उपन्यास लिखने के पूर्व भगवानदास मोरवाल कहानियाँ लिखते थे। विद्यार्थी अवस्था में कविताएँ भी लिखी किन्तु बतौर साहित्यिक कृति के रूप में उनकी पहली कृति एक कहानी संग्रह 'सिला हुआ आदमी' के रुप में सामने आती है। और इस प्रथम कृति के विषय में बताते हुए मोरवालजी कहते हैं कि इसमें जीवन के अनुभवों को लेखकीय अंदाज में ढालने का प्रयास किया गया है।

किसी भी साहित्यकार की पहचान उसकी किसी एक खास कृति से होती रही है। प्रेमचंद जी का रचना संसार बहुत बड़ा होने पर भी सामान्य पाठक उन्हें 'गोदान' उपन्यास के रचनाकार के रुप में ही पहचानता है। उसी तरह 'आवारा मसीहा' से विष्णु प्रभाकर 'मैला आँचल' से फणीश्वरनाथ रेणु 'कामायनी' से जयशंकर प्रसाद, 'मधुशाला' से हरिवंश राय बच्चन को अपनी पहचान मिली है। इसी तरह की उपन्यासकार के रुप में भगवानदास मोरवाल को 'काला पहाड़' उपन्यास से एक नयी पहचान मिली है।

2.2.2 भगवानदास मोरवाल के उपन्यास :

हिंदी साहित्य में उपन्यास विधा का अविर्भाव उन्नीसीं शताब्दी के अंतिम दशकों में हुआ। आगे हिंदी के कितने ही साहित्यकारों ने इस विधा को समृद्ध किया। वर्तमान समय तक यह कार्य निर्बांध गती से चलता आ रहा है। श्रद्धाराग फुल्लोरी, लाला श्रीनिवासदास, बालकृष्ण भट्ट, देवकीनंदन खत्री, किशोरीलाल और गोपालराम गहमरी जैसे आरंभिक महान उपन्यासकारों ने उपन्यास विधा की जो नींव रखी थी, उस पर इस विधा का भवन खड़ा करने में जयशंकर प्रसाद, प्रेमचंद, चतुरसेन शास्त्री, वृंदावनलाल वर्मा, जैनेंद्र, भगवती शरण वर्मा, फणीश्वरनाथ रेणु, अज्ञेय, हजारीप्रसाद द्विवेदी और विष्णु प्रभाकर आदि जैसे कितने ही उपन्यासकारों ने अपना योगदान दिया है। इनमें से कुछ उपन्यासकारों ने सामाजिक समस्याओं को अपने

उपन्यास लेखन का विषय बनाया तो कुछ उपन्यासकारों ने ऐतिहासिक कथानकों को अपने उपन्यास लेखन का केंद्रिय विषय बनाया है।

भगवानदास मोरवाल के उपन्यासों में सामाजिक समस्याओं तथा ऐतिहासिक घटनाक्रमों का मिलाजुला रुप देखने को मिलता है। डॉ. अनिल सिंह कहते हैं कि ''अपनी विविधता और समग्रता में कथ्य और शिल्प के नए रुपों को गढते हुए अलग-अलग समस्याओं की पृष्ठभूमि पर लिखे गए उनके सभी उपन्यास अपने समय की मौजू आवाजें हैं।''[6]

भारतीय समाज की स्त्रियों का जीवन और समस्याएँ मोरवाल जी की रचनाओं का महत्वपूर्ण हिस्सा है। भारत का हर राज्य 'बेटी बचाओ बेटी पढ़ाओ' का नारा देकर स्त्रियों के हकों-अधिकारों को लेकर आगे बढ़ रहा है। इस बात की गहराइयों तक समझ आना भी लेखक को महत्वपूर्ण लगता है। केवल घोषणा करने भर से यह कार्य संभव नहीं हो सकता। राजनीतिक रूप में यह सिर्फ नारा बना हुआ है। इसके लिए समाज की मनोवृत्ति को बदलना होगा। इसी सामाजिक मनोवृत्ति को बदलने की दिशा में मोरवाल जी के उपन्यास सिद्ध साबित होते हैं।

2.2.3 काला पहाड़ :

उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में उपन्यास एक विधा के रुप में स्थापित होकर आगे बीसवीं शताब्दी के आरंभिक दशकों में क्रमश: उसका विकास होता गया है। जीवन के व्यापक अनुभव विविध कलात्मक रुपों में उपन्यासों द्वारा सामने आने लगे। मॅनेजर पांडेय का कथन है - 'भारतीय उपन्यास में किसान आया तो अपने साथ वह अपनी संस्कृति, भाषा और कथन के साथ वह अपनी संस्कृति, भाषा और कथन की भंगिमाए भी लेकर आया। जिसमें उपन्यास का नया यथार्थवादी रुप निखरकर सामने आया। तभी उपन्यास जनजीवन का आख्यान बन गया।''[7] उपन्यास में किसान का यथार्थ रुप में लाने का श्रेय प्रेमचंद को दिया जाता है। आगे नागार्जुन और

फणिश्वरनाथ रेणु ने प्रेमचंद की इसी परंपरा का उचित निर्वहन करते हुए उपन्यास लिखे हैं। समकालीन साहित्यकारों द्वारा इस परंपरा का निर्वहन करने वालों में भवानदास मोरवाल जी का नाम बड़े आदर से लिया जाता है।

राजकमल प्रकाशन समूह के राधाकृष्ण प्रकाशन द्वारा सन 1999 में प्रकाशित किया गया 'काला पहाड़' यह भगवानदास मोरवाल का प्रथम उपन्यास है। पौने पाचसों पृष्ठों का यह बृहत उपन्यास है। जिसमें बीस वर्ष पहले का ही नहीं बल्कि सदियों पहले का मेवात मिलता है। मेवातों का सुनहरा अतित और उनका गौरवशाली इतिहास भी उपन्यास में आया है। इस उपन्यास के साथ ही भगवानदास मोरवाल को उपन्यासकार के रुप में हिंदी साहित्य में एक पहचान मिली है।

इस उपन्यास के शीर्षक की सार्थकता को कई अंगों से स्पष्ट किया जा सकता है। जब किसी भयंकर अपराधी को भयंकर सजा देनी होती है, तो उसे काला पानी की सज़ा सुनाई जाती है। मेवात की मेव जनजाति आज भी विकास से कोसों दूर रहते हुए काला पानी की सज़ा काट रहे अपराधियों की तरह ही जीवन यापन करते दिखाई देते हैं।

दूसरे अर्थ में मेव जनजाति का मूल स्थान के रुप में 'काला पहाड़' को जाना जाता है, जो अरावली पर्वतों की शृंखला में आता है।

'काला पहाड़' को सामाजिक उपन्यास भी माना जा सकता है। मेवात के अंचल विशेष की कथा होकर भी प्रचलित अर्थों में यह आंचलिक उपन्यास नहीं ठहरता। इसमें अंचल के किसानों-मजदूरों, विभिन्न वर्णों-वर्गों में बँटी जातियों के लोग टूटती बिखरती परंपरागत जीवन शैलियों के साथ चित्रित है। कभी-कभी नागरी जीवन का पड़ता हुआ प्रभाव भी दिखता है। अकेलेपन की चिंताए है वहीं राजनीतिक और सामाजिक यथार्थ भी है। स्वाधिनता के बाद का भारतीय समाज और उसका ग्रामीण समाज इस उपन्यास की कथा का आधार है। वर्णनात्मक किस्सागोई के माध्यम से

उपन्यास की कथावस्तु को विस्तार दिया गया है जिससे यह पठनीय बन सका है। इस वर्णन के साथ-साथ लेखक सामाजिक समस्याओं का संश्लेषण भी प्रस्तुत करते चलते हैं। उपन्यास में जगह-जगह पर ऐसे अंश मिलते हैं जहाँ कथा स्थगित होकर वह अनुभवजन्य जीवन दर्शन की अभिव्यक्ति बन जाती है।

उपन्यास का आरंभ प्रधानमंत्री की नगीना यात्रा के दृश्य से होती है। गाँव में शहीदी मीनार का उद्घाटन प्रधानमंत्री के हाथों किया जाता है। सन 1857 के समर में शहीद हुए मेवात के वीरों की स्मृति में बनाया गया आधुनिक स्मारक और उसके उद्घाटन के समारोह के आयोजन-प्रयोजन के साथ विधायकों की रेलचेल आदि का वर्णन भी प्रवाहमय हुआ है। साथ ही मेवों के गौरवशाली इतिहास का भी वर्णन है। मेव जनजाति के लोगों द्वारा गांव के हालात को प्रधानमंत्री के समक्ष प्रस्तुत करना और विकास के लिए आग्रह करना आदि कितनी ही घटनाओं का चित्रण एक ही पटल पर सामने आता है। अलग-अलग खण्डों में कही जाने वाली ये बातें एक ही घटना के माध्यम से स्पष्ट करने में लेखक ने अपनी प्रतिभा की झलक दिखायी है।

इन सभी घटनाओं के अंश आरंभ में ही स्पष्ट कर देने से पाठक आगे के कथाक्रम को विस्तार से समझ पाता है। मेवात की राजनीति के दो ध्रुव है, एक चौधरी करीम हुसैन और दूसरा चौधरी मुर्शीद अहमद। ऐतिहासिक तथ्यों के होने से ऐतिहासिक दृष्टि से भी इसमें देखा जाता है। कुछ कट्टरपंथी पात्र इस बात को स्वीकार नहीं करना चाहते कि मेव जनजाति के लोग इस्लाम कबूल करने के पूर्व क्षत्रिय वंश के थे। किन्तु ऐतिहासिक प्रमाणों को भी झुठलाना इनके बस में नहीं होता है।

सलेमी को उपन्यास का नायक माना जा सकता है क्योंकि कथा के आरंभ से अंत तक उसका अस्तित्व बराबर बना रहता है। अन्य पात्रों में मनीराम रोवड़ा, बुद्धन, नबी खाँ, बाबू खाँ, बनवारी सलमान, चौधरी अख्तर मुहम्मद, चौधरी करीम हुसेन, हरसाय सुभान खाँ, छोटे लाल, सूरज, डॉ. शफीक लाल, ज्ञानचन्द जैन, जगनी

हाजी, अशरफ, हाकिम, तरकीला, रमजानी, रुमाली, रामदेई, मेमन तथा कजरी आदि अन्य अनेक पात्र उपन्यास के कथानक से जुड़े हैं। इन पात्रों के द्वारा मेवात अंचल अपने सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक आदि रुपों में अभिव्यक्त हुआ है। हरियाना के ग्राम एवं अंचल विशेष की सामाजिकता के अंतर्गत लोगों का खानपान, रहन-सहन, रीति-रिवाज, अंधविश्वास, प्रथा-परंपरा आदि का बखूबी से चित्रण उपन्यास को आकर्षक बनाता है। इस अंचल के मानव जीवन का अंकन करना उसका समग्रता से चित्रण करने का लेखक का व्याक दृष्टिकोन होने से किसी एक विशेष पहलू पर अधिक बल नहीं दिया गया है। अंचल के मानव जीवन में सामाजिक पहलू अधिक महत्वपूर्ण होता है। इसलिए इस उपन्यास में अनेक स्थानों पर यहां के अंचल के सामाजिक जीवन विस्तृत वर्णन मिलता है। छोटे-मोटे झगडे, गाली-गलोच, यह उनके जीवन का अंग बने होते है जिसका वर्णन भगवानदास मोरवाल ने बडे ही मनोहारी ढंग से किया है। उदाहरण के लिए इस अंश को देखे - 'संजा के आरोप को सुनते ही हरसाय के जिस्म में मानों आग लग गयी। पूरा शरीर गुस्से से काँपने लगा, बिगडे खानदान की... रंडी, राँड... हम हराम की खावे हैं दारी की के ऐस रहपटा जडाउंगो के छेलई छेल मूतेगी।''[8] इस तरह के मनोरम संवाद पढते हुए पाठक स्वयं को उन्हीं पात्रों के इर्द-गिर्द महसूस करने लगता हैं मानो वह घटना उसके सामने घटित हो रही हो।

उपन्यास के राजनीतिक पक्ष को देखने पर यह देखा जा सकता है। स्थानिक नेताओं द्वारा जनता को भुलाया जाता है, उन्हें ठगा जाता है और उनका बूरी तरह से शोषण किया जाता है। इस कारण से जनता की होनेवाली बेचैनी का चित्रण उपन्यास में आया है। इन नेताओं द्वारा लोगों को बेवकूफ बनाया जाता है और लोगों को भी इनकी नौटंकी का पता चलता है। स्थानिक नेता चौधरी करीम हुसैन यहाँ के एम.एल.ए. हैं जो लोगों के बीच जाकर छाछ महेरी पीने का नाटक करता है। इससे

उसके नाटकीय कौशल को देखा जा सकता है। ''चौधरी करीम हुसैन ने कनखियों से चुपचाप दरवाजे और खिड़कियों की जाली में गडी आँखों की ओर देखा तो पाया कि सबकी आँखें जमात के बजाय उसी पर टिकी हुई है। लगभग खाली हो चुके कटोरे को करीम हुसैन ने बाएँ हाथ की हथेली पर रखा और उंगली से कटारे में लिपटी हुई महेरी को पोछकर पी गया।''[9] सलेमी के कथन से उपर्युक्त कथ्य का स्पष्टीकरण भी किया है - ''अरे इनका यही तो चोचला और टोटका है जो कि वजह से ये आज तलक या इलाका पर राज करता आ रहा है। .... ई मेरीसुरी मेव की जात इतनी भोली और बावली है कि जैसे चाहों चुनिया बना लीओ... तो हे पता है, याने कि यह मेहरी को कटोरा जानबूझ गंगाया है।''[10]

उपन्यास में ऐसे अनेक स्थानों पर राजनीतिक जीवन का चित्रण मिलता है, जो यहाँ की राजनीति की पोलखोल करता है। राजधानी दिल्ली के समीप होकर भी आर्थिक दृष्टि से इस अंचल का विकास नहीं हो पाया। उपन्यास में दिखाया गया है कि बनवारी जैसे युवक दिल्ली में जाकर बस गए और कई स्थानों पर वर्णन आया है कि लोग धीरे-धीरे गाँव छोडकर शहरों की ओर पलायन कर रहे हैं। जिसका कारण उनकी निर्धनता को बताया गया है। जब गाँव में कोई उदर-निर्वाह का साधन न हो, साहूकारों के कर्ज की चिंता हो, घर-गृहस्थी संभालनी हो, बेटी की शादी करानी हो इस तरह की कितनी ही समस्याओं से ग्रस्त यह भोले-भाले लोग शहर की ओर भागते हैं। उनके पिछडेपन को व्यक्त करनेवाला सलेमी का यह कथन यहाँ द्रष्टव्य प्रतीत होता है। ''जब से होस संभालो है, हम तो वैसाही है...। और साठ बस की तो मेरी ऊमर हो गयी है, पर आज तलक तो ससूरी रेल तक देखी ना गयी, बामें बैठेगी तो अलग रहो।''[11] इस तरह उनके पिछडे पन के कारणों में उनका भोलापन, अज्ञान तथा अंधश्रद्धा को स्पष्ट किया गया है।

उपन्यास में धार्मिक दृष्टि से इस अंचल के जीवन की सुंदर अभिव्यक्ति मिली है। हिंदुओं की नैतिकता एवं सच्चारित्रता आदि विषयक निष्ठुरता का आभास हमें उपन्यास को पढ़कर होता है। इस अंचल में रहनेवाली स्त्री के जीवन का विविधांगी चित्रण लेखक ने किया है। जिसके लिए उन्होंने अलग-अलग घटनाओं का सहारा लिया है। स्त्री-मन की आन्तरिकता, उसका दर्द आदि का मार्मिक चित्रण लेखक ने किया है। इस तरह के परिवेश के लिए जिम्मेदार ठहरने वाली पितृसत्ताक समाज की मानसिकता और उसकी सोच को भी विस्तार से स्पष्ट किया है। बरतो जो उपन्यास की मुख्य स्त्री पात्र है वह इस ओर संकेत करती है कि, ''या मरद की जात की बात तो झुटों भी सच्ची हो जाए है, और हम कलेजा चीर के दिखा देए, हमरे उपर कोई अकीन करे हैं।''[12] स्त्री मन की छटपटाहट, वेदना को व्यक्त करने वाले इस तरह के कितने ही प्रसंग इस उपन्यास में मिलते हैं।

उपन्यासकार इस बात को जानते और समझते हैं कि हम जब तक सामाजिक विद्रुपताओं तथा विसंगतियों-विषमताओं के विरुद्ध स्त्री को जागरूक नहीं करेंगे और इसके लिए संघर्ष करे की शक्ति उसे नहीं देगें, तब तक उन पर का पुरुष अस्तित्व बराबर बना रहेगा। इसी व्यापक दृष्टिकोन को सामने रखकर भगवानदास मोरवाल ने स्त्री विषयक मूल विषयों को न केवल गहराई से उठाया है बल्कि उनकी जिजीविषा और संघर्ष को सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक परिवेश मे यथार्थ के धरातल पर चित्रित किया है। इस अर्थ में यह उपन्यास स्त्री विमर्ष परक भी ठहरता है।

इस अंचल विशेष में मुस्लिमों की बहुलता रही है। मुस्लिम शासकों के शासनकाल में मुस्लिम धर्म अपनाने वाली यह जनजाति क्षत्रिय होने के प्रमाण मिलते हैं। और उनके धार्मिक आचार-व्यवहार, रीति-रिवाज आदि से भी यह ज्ञान होता है। मुस्लिम होने के बाद भी यह लोग अपनी परंपराओं और उससे जुडी संस्कृति से जुड़े रहे हैं। इस धार्मिक क्रिया-कलापों के माध्यम से उनके आपसी प्रेम, भाईचारा आदि

को भी लेखक ने स्पष्ट किया है। बाबरी मस्जिद के ढहाए जाने के बाद देश भर में साम्प्रदायिक दंगों की आग सी लग गयी। जिसकी लपटें इस अंचल तक भी आती रही लेकिन सलेमी जैसे लोगों ने लोगों में धार्मिक सहिष्णुता को जिलाए रखा और वहाँ का माहौल बिघडने से बचाया, शांती बनाए रखी। इतनी धार्मिक सहिष्णुता होने के बावजूद इस अंचल को प्रदेश को (खास कर मेवात को) 'मीनी पाकिस्तान' कहा जाना कहाँ तक उचित ठहरता है? इस बात की ओर लेखक ने संकेत किया है।

आँचलिक उपन्यासों के लिए निर्धारित एक विशिष्ठ भाषा शैली होती है और इसकी कुछ मर्यादाएँ भी होती है जिसे इस उपन्यास में नहीं देखा जा सकता। अत: भाषा की दृष्टि से यह उपन्यास आंचलिक उपन्यासों की कसोटी पर नहीं उतरता। अधिकांश आंचलिक शब्दों के प्रयोग होने से उपन्यास पढते समय पाठक के लिए जटिलताएँ निर्माण होती है। लेखक ने ऐसे कुछ आंचलिक शब्दों का प्रयोग जहाँ भी किया है और जिससे हिंदी जगत अछूता रहा है, उसका अर्थ फुट-नोट में दिया भी गया है। जिससे इस जटिलता से पाठक को निजात मिलती है। आंचलिक उपन्यासों की सबसे बडी एवं महत्वपूर्ण विशेषता उसकी भाषा होती है, जिसमें यह उपन्यास अपना अस्तित्व खो देता है।

2.2.4 बाबल तेरा देस में :

उपन्यासकार के रूप में जो पहचान भगवानदास मोरवाल जी को 'काला पहाड़' से मिली थी, उसे गहरा बनाते हुए उनका यह दूसरा उपन्यास इ. सन. 2004 में राजकमल प्रकाशन द्वारा प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास के प्रकाशन के साथ ही वे हिंदी जगत में उपन्यासकार के रूप में छा गए। क्योंकि उनकी विषय वैविध्य की कलात्मकता से अब पाठक भलिभाँति अवगत हो गए थे। इस उपन्यास से उन्हें शत प्रतिशत मेवाती समाज और वहाँ की संस्कृति का लेखक माना जाने लगा। मेवाती याने मेव और अब मुस्लिम कहे जानेवाले इस समाज का जीवंत और मांसल

यथार्थपूर्ण चित्रण उनके उपन्यासों में आया है। इस अंचल में रहनेवाले इन मेवातियों के विषय में दो बडे सवाल जो साम्प्रदायिक सदभाव तथा पितृसत्ताक समाज व्यवस्था से जुडे हुए हैं उस समाज में स्त्री के स्वातंत्र्य की सुगबुगाहट उनके उपन्यासों में व्यापक रुप से आती है। यह उपन्यास भी काला पहाड की तरह बृहत उपन्यास ठहरता है। लेखक ने बिना किसी प्रलोभन या बडप्पन के अपना लेखन कार्य चुपचाप ढंग से किया है। जिससे इस समाज के प्रति उनकी सजगता एवं परिवर्तन की सक्रियता को पाया जा सकता है।

उपन्यास का आरंभ एक संपन्न तथा विशाल मेव परिवार के हवेली के वर्णन तथा संबंधित पारिवारिक सदस्यों के साथ होता है। चार दीवारों में कैद, दालुमों, पुरुष बैठकों और जनानखानों में कैद औरतें अपनी विवशता को छुपाती हुयी इन चार दीवारों के अन्दर ही अंदर बिखरी-बिखरी सी दिखाई देती है। उपन्यास की कथावस्तु में जहाँ एक ओर नसीब खाँ, अज़ैर जैतुनी तथा हाजी चांदमल का बडा सा बिगडता या जुडता कुनबा है, वहीं दूसरी ओर हिंदू और अन्य पिछडे वर्ग के परिवार और कुछ दलित परिवार भी आते हैं। यह उपन्यास इसी हवेली के भीतर एवं बाहर घटित होनेवाली अनेकानेक घटनाओं, प्रसंगों का लेखाजोखा प्रस्तुत करता है। यह लेखाजोखा न केवल स्त्री जीवन की यथार्थता को व्यक्त करता है बल्कि मुख्यत: एक आम 'मेव' स्त्री की जिजीविषा को उसके समस्त जीवन के साथ अभिव्यक्ति देता है। यह घटनाएँ बहुत से अलग-अलग प्रसंगों को ऐसा आरोह-अवरोह प्रदान करते हैं कि, जो मेवात साम्राज के स्त्री जीवन के भीतर घूट रहे अन्तर्नाद को बाहर तक गुंजायमान करती हुयी दिखाई देती है।

भारतीय समाज की पितृसत्ताक कुटुंब व्यवस्था इस अंचल विशेष की भी एक परंपरागत व्यवस्था रही है। इस प्रथा के एक नहीं बल्कि कितने ही विपरित परिणामों की चर्चा उपन्यास की कथावस्तु में आयी है।

पितृसत्ताक कुटुंब व्यवस्था के अनेक रुप उपन्यास में चित्रित किए गए हैं। चांदमल हाजी की हवेली का सच कितना भयानक है कि पाठक स्वयं विचलित हो जाता है। इस हवेली के कर्ता-धर्ता पुरुष ही घर की अन्य स्त्रियों पर हाथ डालते हैं। जोर जबरदस्ती करके ऊस स्त्री के साथ दैहिक संबंध भी प्रस्थापित करते हैं। ऐसा करते समय उन्हें खून के रिश्तों का भी खयाल नहीं रहता है। जआर के आदम कद के खेत में बन्तों चांदमल हाजी और उसकी बहू जुम्मी की गुथमगुत्थी देखती है। बरसों पहले देखे गए इस दृश्य को वह टुकडों में सोनदेई को सुनाती भी है। केवल सुनाती ही नहीं बल्कि बडे चाव से सुनाती है। लेखक कहते हैं कि इस सच्चाई को बयान करने में उसे दु:ख होने की अपेक्षा रस ग्रहन में अधिक रुचि आती है। उस घटना को बाँटने की इच्छा उसमें बलवती हो उठती है। आगे वह भी औरतों की इज्जत से खिलवाड करनेवाले इन्हीं लोगों के प्रति अपनी रजामंदी जाहिर करती है, किन्तु समय पर ही उन्हें पहचान जाती है और स्वयं पर क्रोधित भी हो उठती है। इस प्रसंग पर उसकी टिप्पणी मार्मिक बन पड़ी है। वह कहती है - ''सच्ची बात तो इ है के या जमाना एक हमारो कसूर तो दीख पावें है पर इन मरदन को कोई ना कहेबे।''[13] यहाँ एक बात द्रष्टव्य है कि वह स्त्री के दु:खों से अन्तर्मन से जुडी नहीं होती है बल्कि जब वह अपने आप को उस मानसिकता का शिकार होते देखती है तब उसे इस प्रसंग का गांभिर्य समझ आता है। इस उक्ती में उसके द्वारा प्रयुक्त 'हमारो' शब्द काफि मायने रखता है क्योंकि यह शब्द केल वह स्वयं के लिए प्रयुक्त ही करती बल्कि समस्त स्त्री जाती की विवशता को वह स्थान करती हुयी दिखती है।

प्रस्तुत उपन्यास का फलक बहुत व्यापक है। इसके कथानक का बहुतांश हिस्सा मुस्लिम समाज की महिलाओं की ज्वलंत मानवीय समस्याओं को पाठक से रु-ब-रु करता है। यह महज एक उपन्यास न होकर मेवात प्रांत की स्त्रियों की अनेकानेक समस्याओं का लेखाजोखा के रुप में पाठक के सामने प्रस्तुत है, क्योंकि लेखक ने

वर्षों से उत्पिडित और शोषित मुस्लिम स्त्री की पीड़ा और संवेदना की अभिव्यक्ति प्रदान की है और संवेदना की अभिव्यक्ति प्रदान की है। साथ ही मुस्लिम समाज में प्रचलित विकृतियों अधानुकरनीय कार्यों विषयक सम्बन्धों, धार्मिक कटुताओं आदि विषयों की ओर पाठक का लक्ष्य आकर्षित कराने का भी प्रयास किया है।

मुस्लिम स्त्रियों की महत्वपूर्ण समस्या तलाक है। यह मेवाती लोग मेव से मुस्लिम हो गए। अपनी संस्कृति से जुड़कर भी उन्होंने 'तलाक' जैसी अमानवीय प्रथा का प्रचलन स्वीकार किया। यदि वे आरंभ के क्षत्रिय या राजपूत होते तो क्या वे आसानी से इस प्रथा के रास्ते पर चल सकते थे? यह प्रश्न भी उपस्थित होता है। उपन्यास में तलाक के आंतककारी रुप को, उसकी दहशत को हम क्लांत में डूबी गहरी आँखों से उदासी के गहरे अनुभवों से अहसास कर सकते हैं। भगवानदास मोरवाल जी ने पाठक को इस ओर अपना ध्यान आकर्षित किया है कि भले ही यह तलाक की समस्या विकराल रुप धारण कर गई हो फिर भी मुस्लिम स्त्रियों को अपना अस्तित्व बरकरार रखने हेतु इसका सामना करना होगा। तलाक की समस्या को बयान करनेवाला यह एक वक्तव्य देखिए - ''बुढी माई, थोडो सो जहस खवा दे मोहें बस्स... मैं... मैं अब कौन सा मू सू जाउंगी अपना बाबल की दहली पै। घायल बछिया सी तडपते हुए गुहार लगाई शगुफ्ता ने।''[14]

प्रस्तुत उपन्यास में उपन्यासकार भगवानदास मोरवाल ने धार्मिक और पवित्र ग्रंथों की वास्तविकता के संदर्भ में उसकी ऐतिहासिकता एवं आदर्शवाद की छानबीन करते हुए तलाक की समस्या पर विस्तृत रुप से प्रकाश डाला है। धर्म के तथाकथित ठेकेदारों को खास कर यह उपन्यास अवश्य ही पढ़ने की जरूरत है। जिससे कि वे देख और समझ सके कि किस तरह से पुरुष धर्म ग्रंथों तथा परंपराओं को आधार बना कर स्त्री का शोषण कर रहे हैं। लेखक का मानना है कि इन सभी सवालों से टकराए बिना हम तथाकथित धर्म के आतंकवादी प्रभाव को ध्वस्त नहीं कर सकते।

हमें जनता के सामने धर्म का वास्तविक रूप पेश करना आवश्यक होगा। तलाक यह शब्द अल्ला-ताला को सबसे नापसंद शब्द होता है जिसकी पुष्टी करने वाला यह कथन द्रव्य है - ''अम्मा वैसे कुरान में कहा गया है कि अल्लाह-ताला के नजदीक या सामने की जानेवाली हलाल चीजों में सबसे ज्यादा घिनावनी चीज है तो वह है 'तलाक'।''[15]

उपन्यास के स्त्री पात्र चंद्रकला (पारो), उसकी भाभी और जुम्मी की जीवन की जटिलताओं और सामाजिक विकृतियों का मार्मिक चित्रण आया है। उपन्यासकार उस सत्य को स्पष्ट करना चाहते हैं जिसे पुरुष सत्ताक व्यवस्था सदियों से दबाते आयी है। अपने सगे संबंधियों के संरक्षण में घर में कैद इन स्त्रियों को घर के ही लोग बुरी निगाह से देखते हैं और मौका मिलते ही उसका भोग भी लेते हैं। जिनके संरक्षण में स्त्री अपने आप को सुरक्षित महसूस करती है वे ही उसका घात करते हैं और सामाजिक भय के कारण यह पीडित स्त्री इस विषय में किसीसे कुछ नहीं कहती है। समाज के इसी कटू सत्य को स्पष्ट करने का साहस भगवानदास मोरवाल इन स्त्री पात्रों के माध्यम से किया है। उपन्यास का पुरुष पात्र ठाकुर अपनी ही पुत्रवधू और अपनी ही पुत्री चंद्रकला को अपनी हवस का शिकार बनाता है। उसका यह अत्याचार चुपचाप सहन करते रहने के सिवा यह स्त्रिया कुछ भी नहीं कर सकती है। वर्तमान ग्रामीण समाज में व्याप्त सामंती बर्बरता, अनैतिक व्याभिचार, कुरीतियों को भोगती यह स्त्रियाँ पुरुषसत्ताक समाजव्यवस्था की बली हो जाती है। ठाकूर की पुत्र वधू समाज की इस अनीतिपरकता पर प्रश्नचिन्ह लगाते हुए कहती है - ''चुद्रा, बीबी हिम्मत करके अगर मैं भाग के तेरे भइया से जा लिपटती और सच बात बता देती तो इ तेरी भाभी अपने पिता समान ससूर की लौंडिया न बनी फिरती। पतो ना, जो बखत हमारे पिता समान ससूर की आँखन के खौफ से मेरी जुबान ही कील दी। अब बताई तो बहुत अमेर होगी। उल्टी तेरे भइया ने ई तोहमत और लगा दी कि तु तो बस मेरी

नाम की ब्याहता है, लुगाई तो तू मेरे बाप की है।''[16] इस सामाजिक यथार्थ को व्यक्त करते हुए लेखक इस व्यवस्था में परिवर्तन की उम्मीद की है।

उपन्यास की कथा क्रमश: विकसित हुई है। उत्तरार्ध तक यह अपेक्षाकृत शिथिल हो जाती है। वहाँ आवेग की मात्रा अधिकतम हो गई है। अत: यह स्पष्ट किया जाता है कि उपन्यास लेखन की परंपरा में यह उपन्यास सराहनीय साबित होता है।

2.2.5 रेत :

हिंदी उपन्यास साहित्य में अपनी अलग छवि बनाए और बचाए रखने वाले चर्चित लेखक भगवानदास मोरवाल के इस उपन्यास के केंद्र में हैं मानागुरु और माँ नलिन्या की सन्तान कंजर और उसका जीवन। कंजर याने कानन (जंगल) में चरनेवाली या चरनेवाला। चरना का अर्थ है वास्तव्य करना या घूमना। यह एक ऐसी जनजाति है जो अपनी पहचान और संस्कृति तथा अस्मिता के लिए आज भी संघर्ष कर रही है। यह उपन्यास राजकमल प्रकाशन द्वारा प्रकाशित किया गया है। कंजर यह एक जनजाति बंजारों के नाम से भी जानी जाती है। 'रेत' यह इनका तिसरा उपन्यास है जो 2008 में प्रकाशित हुआ है। रेत के प्रकाशन के बाद उसे काफी तरह के विरोधों का सामना करना पड़ा था। यह तीसरा उपन्यास था।

क्रिमिनल ॲक्ट जो अंग्रेजों ने बनाया था उसका आज के अधिकारियों द्वारा गैर इस्तेमाल होता रहा है। यह ॲक्ट केवल अपराधी जनजातियों के लिए थे। देशी शासकों ने क्रिमिनिल ट्राईब ॲक्ट का किस तरह से गैर इस्तेमाल किया है, इसका वर्णन इस उपन्यास में मोरवाल जी ने किया है। इस विषय में गिहारों ने मानहानी का दावा किया क्योंकि वे भी कंजरों की जनजाति मानते हैं। मानवगुरु यह कंजरों के साथ साथ गिहारों का भी गुरु ठहरता है और कंजर जाति की यौनकर्मी स्त्रियों के चित्रण को लेकर उन्होंने मानहानी का दावा किया था। बन्दुओं पर काले पिले बांधकर फुल भेट

करते हुए लेखक का गांधीमार्ग से विरोध किया गया जिसे मोरवालजी इस जनजाति की सामंजश्यता मानते हैं।

इस उपन्यास को पढ़कर कुछ पढे-लिखे युवक मोरवाल जी से मिलने गए और उनके इष्टदेव मानवगुरु तथा उनके इतिहास के विषय में अधिक से जानने की दिशा में बिनती करने लगे। यह एक तरह से अपने अतीत को अपने अस्तित्व का तराशने, उसे जानने की छटपटाहट ही है। ऐसा भगवानदास मोरवाल का मानना है।

मजदूर परिवार में जन्मे कथाकार तथा उपन्यासकार भगवानदास मोरवाल अपने गहरे कथात्मक अन्वेषण, अनुसंधान और अछूत विषयों को केंद्र में रखकर लिखी गयी साहित्य कृतियों से हिंदी साहित्य में अपनी अलग सी पहचान बना चुके हैं। उनके साहित्यिक विषय तथा उसके पाच अनुठे और लोकजीवी ठहरते हैं। उनके लेखन का दायरा इतना व्यापक है कि पाठक उसे पढ़कर अवाक हो जाते हैं। यही वजह है कि वे पाठक उनकी नयी कृतियों की प्रतिक्षा करते हैं। किसी सम्मान अथवा आर्थिक लाभ की अपेक्षा ना करते हुए उनका यह लेखन कार्य आज भी जारी है। खाली लेखन के माध्यम से जीवनयापन कितना मुश्किल कार्य होता है यह वे जानते हैं। प्रेमचंद को भी उदरभरन की समस्या से पूरा समय लेखनकार्य को देना संभव नहीं था। उपन्यास का अंत रुक्मिणी के शपथ ग्रहण समारोह के साथ हुआ है। ''मैं रुक्मिणी कंजर, सत्य निष्ठा से प्रतिज्ञा करती हूँ कि, मैं विधि द्वारा स्थापित भारत के संविधान के प्रति सच्ची श्रद्धा और निष्ठा रखुँगी।''[17]

'रेत' वस्तुत: कंजर परिवार के स्त्री समुदाय पर केंद्रीत उपन्यास है। गाजुकी गाँव का 'कमला सदन' और उसमें अपने-अपने जीवन का सच जीती रही स्त्रियों का यथार्थ चित्रण उपन्यास में आया है। यहाँ 'बुआ' और 'भाभी' के रुप मे कुछ स्त्रिया होती है और जो बिना ब्याही रहती है उसे खिलावडी का जाता है। भाभियों को चारदिवारों में ही कैद होकर रहना होता है। पिंकी यह इस परिवार की सबसे छोटी

सदस्य है जिसकी उम्र साढे चार साल की है । उसे सबकी मौजूदगी में वैजी पूछते हैं कि वह बड़ी होकर क्या बनना चाहती है? तब वह सबसे पहले कमला बुआ पर नजर डालती है, फिर दादी बुआओं अर्थात रुक्मिणी, वन्दना और पूनम पर और बाद में वह अपनी माँ पर नजर डालती है तब उसका चेहरा भी उसकी माँ की तरह जर्द हो जाता है। फिर वह घोषणा करती है कि वह 'बुआ' बनेगी, माँ की तरह भाभी नहीं बनेगी। भले ही वह बुआ बने या भाभी यहाँ स्त्री का शोषण हर हाल में होता है इस बात की ओर उपन्यासकार पाठक का और समाज का ध्यान खिंचना चाहते हैं। कमला बुआ और रुक्मिणी के रूप में लेखक ने इस समाजव्यवस्था के चेहरे गढ़े हैं। या तो इस समाज की स्त्रियों को भाभी होकर घरों में कैद होना होता है या बुआ के रुप में खिलावडी बनकर रहना होता है। हर जगह वह शोषिता ही रहती है।

वैद्य जी से अपने मन का भेद बताते हुए कमला कहती है - ''क्या मिलता है ब्याह करके। जिंदगीभर खसम और औलाद के साथ साथ भाभी बनी सास-ननदों की चाकरी ही तो करनी पड़ती है। मरी बुआ बनी रहती तो उमर भर मजे करती।''[18]

भगवानदास मोरवाल ने कंजरों के कई संस्कारों और लोकाचारों को प्रामाणिकता के साथ चित्रित किया है। सगाई, विवाह, मत्था ढकाइ, जैसे प्रसंगों का प्रयोग करके पात्रों की मनोदशा का चित्रण किया है। उपन्यास में स्त्री पात्रों की भरमार है जिनकी अपनी-अपनी एक कहानी है। रुक्मिणी यह मुख्य स्त्री पात्र है। अपने अस्तित्व की तलाश में वह संघर्षरत है। वैद्यजी क साथ वह एक अबुझ रिश्ते से जुड़ी रहती है।

रेत उपन्यास पठनीय होने के साथ अर्थपूर्ण भी है। वर्णन पर भरोसा करने के साथ ही लेखक स्फिति से बचे हैं। अतिरिक्त टिप्पनियों के प्रयोग से दूर रहे हैं। उनका लेखकीय विवेक सराहनीय ठहरता है। कथानक देह व्यापार पर होने के बावजूद

रतिक्रिडाओं का भड़क वर्णन करने से लेखक बचे हैं। एक संवेदनशील लेखक के रुप में ही इस तरह की घटनाओं को वे चित्रित करते हैं।

समग्रत: कंजर जनजाति और विशेषकर उनकी स्त्रियों पर यह उपन्यास केंद्रीत होने के बाद भी एक व्यापक प्रश्न से पाठक एवं समाज को परिचित कराया गया है। सामाजिक विसंगतियों, विडम्बनाओं की रेत में जिंदगी की जमीन तलाशता यह उपन्यास भगवानदास मोरवाल जी की लेखकिय प्रतिभा के प्रमाण भी प्रस्तुत करता है।

2.2.6 नरक मसीहा :

भगवानदास मोरवाल की यह चौथी औपन्यासिक कृति है जिसका प्रकाशन सन् 2014 में हुआ। इस उपन्यास में गैर-सरकारी संगठनों द्वारा समाज के विकास की आड में होने वाली लूट की बखियाँ अधेडी गई है। शासकीय कर्मियों तथा गैर-सरकारी संगठनों तथा बहुराष्ट्रीय कंपनियों के गठजोड से जो एक नया साम्राज्यवाद कायम हुआ है। उसमें एक ओर तो वातानुकुलित कोठियों, गाड़ियों, पांच सितारा होटलों और हवाई यात्राओं का उपभोग करनेवाले लोग हैं वहीं दूसरी ओर सिद्धांतों एवं मूल्यों को अपनी छाती से चिपकाएँ गंगाधर आचार्य और कॉमरेड सोहनलाल 'प्रचंड' जैसे लोग भी हैं, जो जीवन के क्षरित मूल्यों के असाध्य ताप से संघर्षरत रहे हैं।

प्रस्तुत उपन्यास में गैर-सरकारी संगठनों की वास्तविक दुनिया पुनर्सृजित हुई है, जिसमें प्रवेश करने पर समूचा परिदृश्य जीवित पात्र की तरह पूरी भयावहता के साथ सम्मुख आकर खड़ा हो जाता है। गैर-सरकारी संगठनों की दुनिया का कटू यथार्थ उजागर किया गया है, जिसके घेरे में लोक संस्कृति भी खतरे में आ गई है। जातिय संस्कृति को लेकर ये संगठन निरंतर फल-फुल रहे हैं। अभी तो ये लोगों के सपनों और संस्कृति को भी उद्योग व्यापार में तब्दील कर रहे हैं। समाज के लिए जो कुछ हितकारी है, समाज को बचा लेने के योग्य है उन सब पर इनका अधिपत्य है।

''संस्कृति का उद्योग लोक और देसी संस्कृति की उपेक्षा नहीं करता। अगर उसने इसकी उपेक्षा की होती तो शायद ये बच भी जाती। लेकिन वह तो इन्हें विदेशों में निर्यात करने योग्य कलाकृतियों में बदल देता है, जो अमीरों की बैठक और मृत्यू-पर्व मनाने वाले संग्रहालयों में सजाने के काम आती है।''[19]

नरक मसीहा इस उपन्यास के पात्र गंगाधर आचार्य तथा कॉमरेड सोहनलाल 'प्रचंड' आदर्शवादी पात्र है जो गांधीजी के मार्ग पर चलते हैं, वही दूसरी ओर बहन भाग्यवती है जो गांधीवादी मूल्यों को ताक पर रखकर जोड़-जुगाड़ से राष्ट्रीय बाल एवं महिला कल्याण परिषद की अध्यक्षा बन जाती है। अपने वातानुकूलित कार्यालय में बैठकर गैर सरकारी संगठनों को दिए जानेवाले अनुदानों पर कमीशन लेती है और वातानुकूलित गाड़ियों में घूमती है। इस विडंबनात्मक अवस्था का चित्रण मार्मिकता से किया गया है। 'सर्वोदयी कल्याण सभा' के लिए अनुदान प्राप्त करने हेतू गंगाधर आचार्य दिल्ली के सडकों पर चलकर भाग्यवती के कार्यालय में उसका घंटों इंतजार करते हैं।

कॉमरेड सोहनलाल 'प्रचंड' अपने सिद्धांतों और मूल्यों के साथ उम्र की ढलान पर सीली हुई कोठरी में खस्ताहाल तख्त पर उद्विग्न होकर पड़े रहते हैं, वही उनके चेले 'कबीर' सर्वहारा फाउंडेशन के तथा ग्रासरुट फाउंडेशन के माध्यम से दोनो हाथों से पैसा बटोरे में लगा रहता है और सानिया पटेल से विवाह कर लेता है। वे दोनों भी मार्क्सवादी सिद्धांतों को तिलांजली दे देते हैं और अपना उल्लू सिधा करने में लग जाते है। बहन भाग्यवति गंगाधर आचार्य को कबीर के विषय में बताते हुए कहती है - ''क्या आप कल्पना कर सकते हैं कि जनाधार सत्याग्रह यात्रा के नाम पर विदेशों से भी धन मिला है कबीर को... इतना ही नहीं इसके सर्वहारा फाउंडेशन को अमेरिका-युरोप से सिल्करुट फेस्टिवल, गोल्डन पाय, हिमालय दर्शन, जल सागर जैसी अनाम परियोजनाओं के नाम पर लाखों डॉलर और युरो के रुप में इतना

अनुदान मिला है कि उन्हें रुपयों में तब्दील कर, उनके पीछे लगे शून्यों को गिना जाए तो गिनते-गिनते ही चक्कर आ जाए। साथ ही वह गंगाधर आचार्य के तत्त्वों अनुशासन प्रियतावर भी सवाल उठाती हैं कि, ''ऐसा भी क्या अनुशासन जिसे आदमी जिन्दगी भर छाती से चिपकाए रखें?''[20] वैचारिक शुन्यता के इस युग में सारी धन-संपदा कुछ थोडे से लोगों ने हथिया ली है और हथिया रहे हैं जिसके प्रति पाठक को क्षोभ होता है।

इस उपन्यास की अंतर्वस्तु भगवानदास मोरवाल जी के अनुभवों की दुनिया है। यह अनुभव रचनाकार के मस्तिष्क की भट्टी में तपकर नए रंग-रुप से अभिव्यक्त हुए है। 'नरक मसीहा' की कथावस्तु जहाँ कही ले जाती है पाठक वहीं गोते लगाने लगता है। जंतर-मंतर तथा इंडिया गेट पर आए दिन होनेवाले धरना आंदोलनों, रैलियों की भितरी सच्चाइयों को भी लेखक ने उजागर किया है। ये कोई पुरातात्विक या ऐतिहासिक स्थल न होकर ऐसे सार्वजनिक संडास बन गए हैं कि देश में मरोड़ कही भी उठे बस गांधी टोपी पहनकर दौड लो इन संडासों की तरफ, और अपना मीड़िया वह तो लोटा लिए जैसे इनकी धोने के लिए तत्पर ही रहता है।

भगवानदास मोरवाल जी ने स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद उभरनेवाले भारतीय समाज के दो प्रमुख झूठों पर चोट की है। सुराज तथा सामाजिक न्याय आज के वे आधारस्तंभ है जिनके एन.जी.ओ. चलते हैं, वे धन बटोरते हैं और अपना बैंक बैलेंस बनाते जाते हैं।

स्त्री विकास-विमर्श के नाम पर धोखा और फरेब करनेवाली कुछ अन्य गैर-सरकारी संस्थाओं और उसमें लगी 'त्याग मुर्ती' रुपी अध्यक्षाओं के भ्रष्ट व्यवहार को भी उपन्यासकार ने खोलकर रख दिया है। ऐसी गैर सरकारी संगठनों एवं संस्थाओं पर आघात करते हुए भगवानदास मोरवाल लिखते हैं, ''सच्चाई तो इन एन.जी.ओ. की दुनिया में घुसने से ही पता चलती है कि असल में उपेक्षितों और वंचितों का मसीहा

बन कौन उनकी सेवा कर रहा है, और कौन उनका दोहन और शोषण कर रहा है।''[21] अपने उपन्यास का उद्देश्य बताते हुए मोरवालजी यह भी बताते हैं कि उपन्यास में कुछ पात्र पैसा जमाने के उनके लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कितने बिभत्स साधनों को जोड़ लेते हैं। इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। महानगरों के ये चतुर सुजान लोग ग्रामीण निर्धनों की मजार उखाडकर भी अपना उल्लू सिधा करने से बाज नहीं आते। वर्तमान के गाँव, देहात तो अब खाली इन्कलाब की प्रयोगशालाएँ बनकर रह गए हैं।

2.2.7 हलाला :

हलाला यह भगवानदास मोरवाल जी का पाँचवा उपन्यास है, जो नरक मसीहा के बाद 2015 में प्रकाशित हुआ है। प्रस्तुत उपन्यास में मुस्लिम समाज में व्याप्त कुप्रथाओं से होनेवाले स्त्री शोषण, उत्पीडन अत्याचार आदि का चित्रण किया गया है।

भारत देश में अनेक धर्म, पंथ के लोग रहते हैं। विविधता में एकता का संदेश भी समुचे विश्व को भारत देश में अपने धर्म सहिष्णुवृत्ति से दिया है। हर धर्म, पंथ की विभिन्न प्रथाए-परंपरा होती हैं, उसी तरह विभिन्न संस्कृतियाँ भी होती है। भारतीय संविधान ने इन सभी को समानता का अधिकार भी प्रदान किया है। इन अधिकारों के चलते किसी के उपर धर्म या किसी तरह का धार्मिक संस्कार जबरन थोपा नहीं जा सकता है। वही भारतीय समाज भी कुछ अपने नियम होते हैं, जिसका अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव बना होता है। हर समाज की अपनी मान्यताए, नीति नियम एवं संस्कार होते हैं जिन्हें समाज में रहनेवाले हर एक स्विकारना भी पडता है और निभाना भी होता है।

किसी भी समाज का निर्माण मनुष्य से होता है जिसमें स्त्री-पुरुष दोनों का अस्तित्व बराबर होता है। घर-गृहस्थी से लेकर खेत-खलिहानों तक स्त्रिया पुरुषों से अधिक कार्य कर रही होती है। परंतु समाज व्यवस्था ने इस तरह से अपने नियम बनाए हैं कि स्त्री को अपने पुरुष के निर्देशन में ही जीवन व्यतित करना पड़ता है।

इस तरह के बन्धनों में जकड़ी हुय मुस्लिम समाज की स्त्रियों का चित्रण भगवानदास मोरवाल ने मार्मिकता से किया है।

जब हम भारत की आधी आबादी की बात करते हैं तो इसका अर्थ है वे तमाम औरतें हमारे भारतीय समाज का अभिन्न अंग होती हे। अत: उनको उनके अधिकारों-हकों से वंचित रखकर हाशिए पर रखना न्यायसंगत नहीं हो सकता। इसी संदेश को भारतीय समाजमन पर स्थापित करने का प्रयास उपन्यासकार ने इस उपन्यास के माध्यम किया है।

वर्तमान में स्त्री जागृति से हम देखते हैं कि अब हर क्षेत्र में भारतीय स्त्री ने अपना अस्तित्व सिद्ध कर दिखाया है। किन्तु पुरुषों की तुलना में यह बहुत नगण्य सा भी है जिसका कारण उनकी अशिक्षा, उनका अज्ञान है। शहरों में जिस तरह का परिवर्तन आया है वह दूर-दराज के गाँव-देहातों में आज भी नहीं हो सका है। परिणामत: वहाँ स्थित पुरुषसत्ताक व्यवस्था द्वारा उनका धर्म के नाम पर डरा-धमकाकर विभिन्न स्तरों पर शोषण किया जाता रहा है जिसका लेखाजोखा प्रस्तुत उपन्यास में आया है। अपने उपर थोपी गई इन कुप्रथाओं कुरितियों को यह स्त्रिया चुपचाप ढोती चली आ रही है। तमाम भारतीय धर्मों में मुस्लिम स्त्रियों की स्थिति कुछ ज्यादा ही चिंताजनक एवं हास्यास्पद भी प्रतित होती है। फिर वह तलाक के रुप में हो या खतना के उसमें भी 'हलाला' जैसी निंदनीय प्रथा आदि के बोझ को ढोते रहनेवाली भारतीय मुस्लिम स्त्री से समस्त भारतियों को अवगत कराने का भगवानदास मोरवाल जी का यह प्रयास काफी सराहनीय माना जा सकता है।

वर्तमान समय में भले ही भारत देश विकास की चरम सीमाओं को प्राप्त करने का दावा करता हो किन्तु विकास की इस प्रक्रिया में हम उन आधी आबादी के विषय में कितने उदासिन या बेखबर रहे है। इसको हम इस उपन्यास को पढ़कर जान-समझ सकते हैं। भारत के हर धर्म, हर संप्रदाय तथा हर जातियों में स्त्रियों का शोषण होता

रहा है, भले ही उसका प्रमाण या तरिका अलग-अलग है। भारतीय मुस्लिम स्त्रियों की इन्हीं हालातों को प्रस्तुत उपन्यास में प्रस्तुत किया गया है। आश्चर्य की बात तो यह है कि स्वयं यह स्त्रियाँ भी यह बात नहीं समझ पाती कि उनका यह शोषण गैर है, बेबुनियाद है। इन स्त्रियों को इन्हीं बारिकियों से अवगत कराने का प्रयास भी भगवानदास मोरवाल ने इस उपन्यास के द्वारा किया है।

उपन्यास के विषय में अधिकतम जानकारी मिलने के लिए सर्वप्रथम हमें इसके शिर्षक 'हलाला' को समझ लेना आवश्यक है। उर्दू-हिंदी शब्दकोश में हलाला का अर्थ बताया गया है कि ''यह तलाक की एक किस्म है जिसमें स्त्री को दूसरे व्यक्ति से ब्याह करना पड़ता है और उसके द्वारा तलाक देने पर वह पहले पति से ब्याह कर सकती है।''[22] दूसरे व्यक्ति द्वारा तलाक लेने पर या उस व्यक्ति की मृत्यू हो जाने पर ही वह स्त्री पहले पति के लिए 'हलाल' हो जाती है। ऐसी स्त्री को 'हलाला' कहा जाता है। अर्थात एक तलाक शुदा पत्नी को अपने पति से दोबारा विवाह करना होता है। इस घटनाक्रम में उस स्त्री को इन दोनों पुरुषों के साथ हम-बिस्तर भी होना जरूरी होता है।

प्रस्तुत उपन्यास मुस्लिम समाज को केंद्र में रखकर लिखा गया है। जिसमें उस समाज जीवन के विभिन्न पहलुओं को उजाकर किया है। संयुक्त परिवार में होनेवाले रोज-रोज के झगडे, स्त्रियों का होनेवाला शोषण आदि को विस्तार दिया। धर्म की आड में स्त्री को इतना छला जाता है कि उसकी अवस्था जानवर से भी बदत्तर हो जाती है। मुस्लिम स्त्री की इस दयनीय अवस्था का चित्रण करते हुए लेखक ने लिखा है - ''दरअसल हलाला धर्म के नाम पर बनाया गया ऐसा कानून है जिसने स्त्री को भोग्या बनाने का काम किया है। सच तो यह है कि हलाला मर्द को तथाकथित सजा देने के नाम पर गढा गया षडयंत्र है। इसके परिणामों को अन्ततः औरत को ही

भुगतने पडते हैं। सजा भी ऐसी जिसे आदि बर्बरता के अलावा कुछ नहीं कहा जा सकता।''[23]

हलाला मुस्लिम औरत के लिए क्यों आवश्यक है? क्या सिर्फ पुरुष ही तलाक दे सकता है औरत नहीं? इन सभी प्रश्नों के जवाबों में मौलवियों तथा मुफ्तियों की अपनी-अपनी राय होती है। इस बात को ठिक-ठिक समझने के लिए मुस्लिम समाज की पारिवारिक स्थितियों को समझ लेना आवश्यक है। इस धर्म में दो-दो, तीन-तीन औरतें रखना या निकाह करना एक साधारण सी बात होती है। खुन के रिश्ते से होनेवाली बहन से तक वे निकाह कर सकते है और ज्यादातर परिवार संयुक्त रुप में ही होते है। परिणामत: यहाँ पर रोज-रोज स्त्रियों को लेकर झगडे होते रहते हैं। कभी पति गुस्से में आकर तलाक भी दे देता है, क्योंकि स्त्रिया अल्लाह की नजर में पैदाइशी अपराधी होती है। इसलिए कुरान में पति की जगह पत्नी को ही सजा देने का नियम है। यद्यपि तलाक देने के कतिपय कारण हो सकते है और कई तरिके भी होते है जिसकी सजा पत्नी को ही मिलती है। इस तरह अमानवीय नियम यदि पवित्र माने जानेवाले धर्मग्रंथों में निहित होते है तो मानवीयता का रक्षण भी हाशिए पर रख दिया जाना अनिवार्य ठहरता है। असल में हलाला की यह प्रथा पति-पत्नी में सुलह या समझौता करनेवाली नहीं बल्कि तलाक के बहाने मुस्लिम औरत वेश्यावृत्ति का शिकार ही होती रही है।

'हलाला' उपन्यास की कथावस्तु एक मुस्लिम परिवार को केन्द्र में रखकर विकसित होती है। यह एक ऐसा परिवार है जिसमें चार लोग रहते हैं जो अपने-अपने जीवन में ही मस्त होते है। जमाल खाँ, कमाल खाँ, नवाब खाँ और तथा उनकी पत्नियाँ भी है और इन्हीं के साथ 'डमरू' भी इस परिवार में आपसी मतभेद भी होते रहते हैं जो ज्यादातर डमरु को लेकर ही होते हैं। डमरु एक सीधा-साधा व्यक्तित्ववाला व्यक्ति होता है जिसमें छल-कपट जैसी भावनाएँ नहीं होती है। अपनी

वजह से तीनों भौजाइयों तथा तीनों भाइयों के बीच चलनेवाले इन रोजमर्रा के झगडो से तंग आकर डमरु अपने एक मित्र लपरलेडी के सुझाव से जमात पर जाता है। लपरलेडी उसे भावजों के प्रति उसकी शंकाओं का निरसन करने हेतू समझाते हुए कहता है -

''तिरिया और तुमड़ी, सब विष की सी बेला

बेरी मारे दाव सूं, तिरियाँ मोर हँस-खेल।।''[24]

इस उक्ती के माध्यम से वह इस परिवार में रहनेवाली डमरु की तीन भावजों के विषय में तथा उनकी जायजाद विषयक आशंकाओं के विषय में डमरु को सजग करवाता है।

दूसरी ओर भगवानदास मोरवाल ने इस उपन्यास में 'स्त्रीचेतना' का विषय भी लिया है, जिससे उपन्यास में नयापन भी आया है और इसमें स्त्री विमर्श भी आया है। यदि स्त्रियों को हमेशा से दबाने की कोशिश की जाती है तो एक समय ऐसा भी आता है जब वह खामोशी को तोडकर आक्रमक हो जाती है। 'आमना' एक ऐसा ही स्त्री पात्र है जिसका पति उसे मारने की धमकी देता है उस पर आमना उसका प्रतिरोध करते हुए कहती है, ''तू अबके हाथ लगा के तो देख.... दारी का ए कच्चो ना चबा जाऊँ तो।''[25] उसे इस वक्तव्य से ज्ञात होता है कि अब इन स्त्रियो के भितर चेतना आ गई है जिससे अब वह बहुत देर तक खामोशी से अन्याय-अत्याचारों को सह नहीं सकती है।

हलाला स्त्री को कितने ही अन्तर्विरोधों, कष्टों का सामना करना होता है। उसका पहला शोषण वहाँ होता है जहाँ वह निकार कर के आती है। दूसरी बार उसका शोषण वह दूसरा पति या उसका परिवार करता है जहाँ पर वह हलाला होकर जाती है। यही तक उसके शोषण की परंपरा खत्म नहीं होती बल्कि धर्म के ठेकेदार बने बैठे मौलवी तथा मुफ्ती भी उसका शोषण करने पर तुले रहते हैं। साथ ही उसके

उपर कई तरह के आरोप भी लगाएँ जाते हैं जिससे उसके चरित्र पर सवाल उठाए जाते हैं। अब तो धर्म के इन ठेकेदारों ने सुविधा के लिए और इस कुप्रथा का प्रचलन और भी बढाने के लिए अपने 'हलाला सेंटर' भी खोल रखे हैं जहाँ से उनको अधिक से अधिक धन भी मिलता है और मौजमस्ती का साधन भी जुट जाता है। अपने इस कार्य को बिनादिक्कत चलाने के हेतु वे गुंडे मवाली प्रवृत्ति के लोगों को भी पालते हैं और उनको भी इस कार्य में शामिल करते हैं।

इन हलाला बनी स्त्रियों की बोली तक लगाई जाती है जिस तरह से भेड-बकरियों तथा साँड की बोली लगती है। उपन्यास का एक पात्र जो धर्म का ठेकेदार मौलवी है वह कहता है, ''शरीयत के अनुसार हलाला यह नहीं कि खाली निकाह कराकर फिर तलाक दिलवा दो....। यह तो अल्लाह पाक में एक और गुनाह हो गया है। ऐसे तो रोज तलाक दो और रोजाना हलाला कराओ। इसके माने ये हुआ कि आपको हलाला का असली मकसद और मतलब ही नहीं मालूम है। हजरत हलाला के बारे में नी सल्ला हेब लैह असलम ने फरमाया है कि हलाला के लिए सिर्फ दूसरा निकाह ही काफि नहीं है, बल्कि उस वक्त तक औरत पहले मर्द के लिए हलाला नहीं होती जब तक की वह दूसरे शौहर के साथ हमबिस्तर न हो।''[26] इस तरह के तमाम हालातों के बीच औरत करे तो क्या करें वह महज कठपुतली की तरह बनकर रह जाती है।

प्रस्तुत उपन्यास पाठक के मन में कई सवाल खड़े कर देता है। अपने पहले शौहर द्वारा तलाक दे दी गई 'नजराना' पड़ोसी डमरु याने उसका दूसरा मर्द से तथाकथित निकाह और उसके बाद फिर से तलाक देने के बाद नजराना को क्या उसका पहला पति और उसका परिवार उसे अपनाने के लिए तैयार हो सकता है? 'नजराना' इस हलाला की शिकार होकर पुरुषवादी धार्मिक सत्ता और पारिवारिक एवं सामाजिक समस्याओं की बली चढती है। साथ ही उसके दैहिक शोषण के खिलाफ

बिगुल बजाने और स्त्री सुचिता को बचाए रखने की कोशिश का एक आख्यान के रुप में यह उपन्यास खरा ठहरता है।

2.2.8 सूर बंजारन :

सूर बंजारन यह भगवानदास मोरवालजी का छठवाँ उपन्यास है जो सन् 2017 में प्रकाशित हुआ है। यह उपन्यास मरनासन्न होने की कगार पर खड़ी लोक-कला का दस्तावेज ही नहीं है बल्कि एक अलक्षित तथा गुम विरासत का सांस्कृतिक इतिहास भी ठहरता है। हाथरस शैली की नौटंकी कला जिसका गौरवशाली इतिहास रहा था वह अब अपना अस्तित्व खोने की, विलुप्त होने की अवस्था को प्राप्त हो चली है जिसका आख्यान यह उपन्यास है। हाथरस शैली की नौटंकी अपनी पूरी परंपरा के साथ व्यक्त करने में लेखकिय प्रतिभा का द्योतक होता है। इस दुनिया ने अपना वृत्त लोक में प्रचलित श्रृतियों, ऐतिहासिक घटनाओं पर आश्रित लोकधुनों और सूरों से निर्मित किया हुआ है। भारतीय इतिहास के सबसे अभागे राजकुमारों में से एक शहजादे दारा शिकोह के द्वारा बसाए गए एक दोटे से शहर के एक छोटी सी गली से निकला यह सूर जहाँ हिन्दुस्थान के थिएटरों में तप कर नौटंकी की दुनिया में अपनी क्षमता प्रमाणित एवं साबित करने में सक्षम रहा है। वही अपनी उम्र के आखिरी पड़ाव में आकर अभिव्यक्ति के सन्तोष में डूब कर विडंबनाओं के बीच वह अपने-आप को अकेला महसूस कर रहा दिखाई देता है।

इस उपन्यास में पारंपरिक और आधुनिक गीत-संगीत तथा उनके साजों से छिडे सूरों की, लोकपरंपरा को भी उद्घाटित करने में सफल रहा है। उपन्यास की नायिका रागिनी केवल एक पात्र नहीं है, अपितु ऐसे असंख्य अलक्षित सूरों का प्रतिनिधिक चरित्र है जो आज गुमनामी के अंधेरे में खोए अपने-अपने सूरों की भीड़, गमक, खटका की तलाश कर रहे हैं।

चौबिला, दौड, दोहा, बरहतबील, दादरा, ठुमरी, छन्द, लावणी, बहरगिकस्त तथा सोहनी जैसे छन्द जब ढोलक की थाप और झील नक्काडे की धमक पर गले को फाड़कर चीरते हुए, रात के सन्नाटे में गुंज उठते हैं तब लगता है मानों नटराज के दरबार में रागों की बरसात हो रही हो। यह उपन्यास हाथरस शैली नौटंकी की अदाकारा का जीवन वृत्त ही नहीं बल्कि इस कला का भी जीवन वृत्त ठहरता है।

प्रस्तुत उपन्यास नौटंकी के रुप में स्थापित हो चुकी इस विडम्बना का भी करुणामयी पाठ प्रस्तुत करता है, जिसमें हमारे समाज में एक हिराकत और उपहार भरा मुहावरा गढ लिया है। एक ऐसा मुहावरा जिसने इन छन्दों की खन को बदरंग कर दिया। अपनी प्रखर संवेदना और रंगीन किस्सागोई में प्रयुक्त बेधडक भाषाओं की पहचान प्राप्त भगवानदास मोरवाल ने इस कृति द्वारा अलौकिक प्रतिभा के धनी होने का दावा किया है। यह रचना अपने आप में अनूठी इसलिए भी साबित होती है कि नौटंकी अर्थात संगीत को केंद्र में रखकर चुनौति पूर्ण कार्य सिद्धी का इसमें दर्शन होता है।

एक अलक्षित तथा उपेक्षित लोककला में समाहित जीवन की ओर लौटते हुए इसके बहुविध रुपों और भाव प्रवाह को लेखक भगवानदास मोरवाल ने न केवल समृद्ध किया है बल्कि इससे पाठक एवं हमारा साहित्य दोनों समृद्ध होंगे ऐसा विश्वास किया जाता है।

2.2.9 खानज़ादा :

भगवानदास मोरवाल के अब तक 'काला पहाड' से लेकर 'शंकुतिका' तक आठ उपन्यास प्रकाशित हुए हैं। वैसे तो काला पहाड इस प्रथम औपन्यासिक कृति से ही हिंदी साहित्य में एक उपन्यासकार के रुप में उन्हें ख्याति मिली थी। उत्तसेत्तर उनकी विषय वैविध्य की शैली से वे पाठकों पर अधिक प्रभाव डालने लगे। इसी श्रृखंला में शकुंतिका के बाद इस 2021 में उनका नववा उपन्यास 'खानजादा'

प्रकाशित हुआ है। इसके शीर्षक में दो शब्द आए है 'खान' और 'ज्यादा' अर्थात उच्च कुलभूषण। मेवात में उपाधिक के तौर पर 'खानजादा' शब्द को प्रयुक्त किया जाता रहा है। हिंदी के प्रख्यात कवि रहिम (अब्दुल रहिम खाने खाना) को भी इसी शृखंला में पाया जाता है। लेखक की ऐतिहासिक खोज को यहाँ स्पष्ट रुप से देखा जा सकता है। इस उपन्यास के हिंदू -मुस्लिम पात्र गंगा-जमुनी संगम से लगते हैं। किसी उपन्यास की कथावस्तु को समाज, देश और संस्कृति के भौगोलिक क्षेत्र के साथ गुंफने में भगवानदास मोरवाल सिद्धहस्त साबीत होते हैं। इसके लिए मात्र कल्पना का ही सहारा नहीं लिया गया बल्कि इसके साथ ही असाध्य परिश्रमों द्वारा किए गए ऐतिहासिक शोध और खोज बीन करके ही अपनी कल्पना को विस्तार दिया है।

मेवात उनके लेखकीय और नागरिक सरोकारों को केंद्र रहा है। अपनी इस मिट्टी की संस्कृति, इतिहास और समाज आर्थिक पक्षों पर उन्होंने बार-बार पाठकों का लक्ष्य आकर्षित किया है। खानजादा यह उपन्यास इसकी अगली कड़ी ही साबित होता है।

खानाजादा का महत्त्व इसलिए भी है कि इसमें उन अदृश्य तथ्यों को बड़ी कठोरता से पड़ताला गया है। क्योंकि इन अदृश्य तथ्यों के कारण ही हम आज की राष्ट्रीय समस्याओं या चिंताओं के साथ जुड़े रहे हैं।

भारत में तुगलक, सादात, लोदी और मुगलों द्वारा चौदहवी सदी के मध्यम से मेवातियों पर किए गए अत्याचारों और दिल्ली के निकट होकर भी मेवात में मची तबाही के दस्तावेज को प्रस्तुति मिली है। साथ ही यह उपन्यास मेवाती वीरों की उन शौर्य गाथाओं को भी सामने लाता है जिसको हमारे इतिहासकारों ने अनदेखा कर दिया है।

प्रसंगवश इसमें हमें कुछ ऐसे उद्घाटनकारी सूत्र भी मिलते हैं जो इतिहास की तोड़-मरोड़ से त्रस्त हमारे वर्तमान को भी कुछ हदों तक राहत दे सकते हैं। मसलन

बाबर और उसका भारत पर आक्रमण करना। हिंदू अस्मिता का उस वक्त के मुस्लिम आक्रमणकारियों से क्या रिश्ता बनता था, धर्म-परिवर्तन की प्रकृति एवं उद्देश्य क्या थे और इस प्रक्रिया से वह भारत कैसे बना जिसे गंगा-जमुनी तहजीब कहा जाने लगा? इस तरह के कि कितने ही सवालों के जवाब पाठक इस उपन्यास को पढकर पा सकता है।

कुल 392 पृष्ठों का यह उपन्यास राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित किया गया है। उपन्यास में रीति कालीन प्रख्यात कवि 'रहिम' को उसी हसन खाँ मेवाती के रिश्तेदारी से जोड दिया गया है जिसने किसी तरह के लालच में न आकर बाबर के प्रस्ताव को ठुकराया था और अपने देशज भाई महाराणा प्रताप का साथ दिया था। आगे इनको 7 मार्च 1527 के युद्ध में वीरगति प्राप्त हुई थी। उन्हें मेवात का जननायक माना जाता है।

इ. स. 1990 में हिन्दुत्ववादियों की रथयात्रा ने समस्त भारतीय जनमानस प्रभावित हुआ था। मेवात के मुस्लिम प्रांतों में भी खलबली मची हुई थी। इस रथयात्रा के परिणति आगे 1992 की बाबरी मस्जिद ढहाने में देखने को मिली। हिंदु-मुस्लिम के भाइचारे में दरार सी आ गई। एक ओर समूचा देश हिंदू-मुस्लिम दंगों से आतंकित था वही मेवात की सांस्कृतिक एकता ने इस भाईचारे की गंगा-जमुनी सी परंपरा को कायम रखने हेतु सामंजस्य की भूमिका का निर्वहन किया है। इस उपन्यास की मूल प्रेरणा में इस घटना को देखा जा सकता है।

लेखक भगवानदास मोरवाल ने अपने प्रथम उपन्यास में हसन खाँ मेवाती को पहला खानजादा ठहराया है और इस नऊ वे उपन्यास में उन्होंने अब्दुल रहीम खाने खाना को उसी हसन खाँ मेवाती की परंपरा से जोडने का सफल प्रयास किया है।

2.3 कथा साहित्य :

उपन्यासों के उपरांत कथा साहित्य में भी अपनी साहित्यिक प्रतिभा का परिचय देते हुए तीन दर्जन से अधिक कहानियों का लेखन किया है।

2.3.1 सिला हुआ आदमी (1986) :

एक लेखन में रुपये यह उनकी पहली कृति है। जीवन के अनुभवों को कल्पना का विस्तार देकर लेखन में ढालने का यह प्रयास था। जो सिला हुआ आदमी नाम से प्रकाशित हुआ। इस संग्रह के अंतर्गत बंद कपाट, ऐसा हे यह बंधन, सुखादर्द, बारात, नौकरी, अधूरासकर, सहारा आदि कहानियां संवेदनाओं की सूक्ष्मता को उभारते हुए एक टीस उत्पन्न करती है। इस संग्रह की कहानियाँ लेखन के व्यक्तिगत एवं निजी अनुभूतियों की परिचायक बन गई है।

2.3.2 सूर्यास्त से पहले (1990) :

भगवानदास मोरवाल का यह दूसरा महत्वपूर्ण संगह है। इसमें ग्यारह कहानियाँ संमलित है जिनमें पटाक्षेप, पहली हत्या, ठिठौली, यमानो का जंगल, झूठा दिन, सूर्यास्त से पहले, लीलहार, टूटे तटबंध, झितिजली ओर, जीने के लिए तथा लक्ष्मण रेखा शिर्षक से कहानियाँ इस संकलन में संमलित है। इस कहानी संकलन में सर्वसाधारण मानव का संघर्ष, कथात्मक वैविद्य, मनोवैज्ञानिक द्वंद्व जैसी विशेषताएँ इसमें दिखाई देती है। परंतु मोरवाल का यह संग्रह कला के क्षेत्र में कोई नवीनतक प्रयोग का मार्ग नहीं दिखाता है।

2.3.3 अस्सी मॉडल उर्फ सूबेदार (1997) :

इस संकलन के अंतर्गत मोरवालजी नौ कहानियाँ संमलित है। जिसमें लेनिन, महराब, भूकंप, रंगअबीर, बस तुम न होते पिताजी आदि महत्त्वपूर्ण कहानियाँ है। मोरवाल जी ने अपनी इन्हीं कहानियों में मेवात की संस्कृति में व्याप्त बंधनहीन धर्म आदि की विशेषताओं को प्रकट किया है। सामाजिक जटिलता, स्वार्थ वृत्ति, धार्मिक

असंतोष का राजनीति के ठेकेदारों द्वारा दुरुपयोग जैसे कहानियों की पृष्ठभूमि रखकर कहानियों के माध्यम से सामाजिक दायित्व का निर्वाह किया है।

2.3.4 सीढ़ियाँ, माँ और उसका देवता (2008) :

मोरवाल का कहानी संग्रह राजकमल दिल्ली से प्रकाशित है। जिसमें पंद्रह कहानियाँ संमलित हैं। इस संग्रह के माध्यम से मोरवाल ने सम-सामायिक जीवन की विसंगतियों को उद्‌घाटित किया है। जिसमें छल, बियाबन, सीढियाँ माँ और उसका देवता, खिडकी, चोट आदि कहानियाँ महत्वपूर्ण है। यह मोरवालजी ने कहानी संग्रहों से एक सफल संग्रह दिखाई देता है। इसमें वैविध्य के साथ-साथ इस संग्रह की कहानियों में शिल्पगत विशेषता दिखाई देती है।

2.3.5 लक्ष्मण रेखा (2010) :

इस संग्रह के अंतर्गत लगभग पंद्रह कहानियाँ लिखी गई हैं। जिसमें संवादों के बीच, ऐसा तो नहीं चाहा था, मुस्कुराहट जो लौट आई, तथा मैं अभी जिंदा हूँ यह कहानियाँ महत्वपूर्ण है। इस संग्रह की कहानियों में चमत्कारिक यथार्थ अथवा पात्रों के उदात्तीकरण की अपेक्षा समकालीन एवं वर्तमान परिस्थितियों का अंकन हुआ है। मोरवाल की लेखकीय पहलु को परिचित कराने की दृष्टि से यह कहानियाँ सफल सिद्ध हुई है।

2.3.6 दस प्रतिनिधि कहानियाँ (2004) :

यह संग्रह किताबघर प्रकाशन नई दिल्ली से प्रकाशित इस संकलन की कहानियाँ उपरोक्त संग्रह में प्रकाशित हो चुकी है। पूर्ण प्रकाशित नौ कहानियाँ इस संकलन में पुन:प्रकाशित हुई है। तथा एक मात्र कहानी वे तीन नई है।

2.4 कविता संग्रह :

मोरवाल ने अपनी साहित्यिक यात्रा काव्य विधाओं को भी अत्याधिक महत्व प्रदान किया है। वे अपनी इसी यात्रा में काव्य की विविध विधाओं को अनुभव समेंटे

अपने रास्ते की कच्ची इट को संघर्ष तथा संभावना की आँच में तपानेवाले कवि है। अनेक काव्य में ग्रामीण संस्कृति की मौलिकता दिखाई देती है। वे मनुष्य को अपराजेय का बोध करानेवाले कवि हैं। उनकी काव्य रचनाएँ भी इस अर्थ में उल्लेखनीय है कि वे मामूली से मामूली आदमी के संघर्ष और सुख-दुःख को उभारती है। मोरवाल जी की कविता में मूल स्वर का जुडाव कविता का निरंतर विकाशील प्रगतिशील काव्यधारा से है। इन का एक ही काव्य संग्रह प्रकाशित है।

2.4.1 दोपहरी चूप है (1990) :

भगवानदास मोरवाल का यह एक मात्र काव्य संकलन प्रकाशित हुआ है। इस काव्य संकलन में मोरवाल ने ग्रामीण और शहरी जीवन में आए अपने मधुर और कटू अनुभवों का निचोड़ प्रस्तुत कर संकलन इस संग्रह के माध्यम से प्रस्तुत किया है। इस संकलन की कविताओं में विषयों की आवृत्ति का दोष खटकता है। साथ-साथ इन कविताओं में कलात्मकता का अभाव भी परिलक्षित होता है। यही कारण था की समीक्षा जगत में मोरवाल के इस संकलन की कोई विशेष चर्चा नहीं हुई है। इस संग्रह की पारदर्शी इतिहास, रेगिस्तान, स्मृतिशेष, अतीत, नर्म धूप का स्वाद, व्यथा पानी, रताँधी, बड़े होते बने, हैरा मना है, खाली जेब तथा दोपहरी चुप है आदि कविताएँ उन्हें एक सजग दृष्टा और एक संवेदनशील कवि के रुप में परिचित कराती है।

2.5 बालसाहित्य :

भगवानदास मोरवाल ने अपने साहित्यिक यात्रा जगत में छोटे बालकों के लिए भी पुस्तकों का संपादन किया है। वह पुस्तक है कलियुगी पंचायत 1997 में प्रकाशित हुआ है। बच्चों के लिए लिखी गयी इस बोधकथा में सम्भू सियार एवं हंस की मित्रता के बीच पत्नी को लेकर पंचायत करने को कथ्य है। इस उपदेशात्मक

कहानी का प्रतिपाथ है। विषय वर्तमान न्यायव्यवस्था का साझ एवं प्रमाणों पर आधारित होकर सत्ता एवं शक्ति के पक्ष में न्यायदान करना है।

2.6 पुरस्कार एवं सम्मान :

लेखकीय कर्म का सम्मलित होना तथा समाजपयोगी रचनाओं का पुरस्कृत होना लेखक के मनोबल की वृद्धि करता है। किसी भी पाठक द्वारा रचनाकार के व्यक्तित्व एवं परिवेश को जानकर ही उसकी रचनाओं में निहित भावों को समझा जा सकता है। क्योंकि किसी भी सृजन का व्यक्तित्व ही उसके कृतित्व निर्माण में सहायक होता है। इस दृष्टि से लेखक, कवि, चिंतक, भगवानदास मोरवाल जी के महान गहन एवं संवेदनशील कृतित्व को न केवल सहारा गया बल्कि समय समय पर विभिन्न संस्थाओं द्वारा सम्मलित एवं पुरस्कृत भी किया गया है। भगवानदास मोरवाल जी को प्रदान किए गए पुरस्कारों एवं सम्मानों का विवरण इस प्रकार है।

1. शोभना एवार्ड, 1984
2. भारतीय दलित साहित्य अकादमी पत्रकारिता के लिए 'प्रभारत मेमोरियल एवार्ड', 1985
3. डॉ. अम्बेडकर सम्मान, 1985
4. हिंदी अकादमी, दिल्ली सरकार पूर्व राष्ट्रपति श्री. आर वेंकटरमण द्वारा मद्रास का 'राजाजी सम्मान' 1995
5. हिंदी अकादमी, दिल्ली सरकार 'साहित्यिक कृति सम्मान', 1994
6. हिंदी अकादमी, दिल्ली सरकार 'साहित्यिक कृति सम्मान', 1999
7. साहित्यकार सम्मान, 2004
8. कथाक्रम सम्मान लखनऊ, 2006
9. कथा (युके) लंदन शब्द साधन ज्यूरी सम्मान, 2009

10. हरियाणा साहित्य अकादमी आंतरराष्ट्रीय इंदु शर्मा कण साधक जूरी सम्मान 2009
11. जनकवि मेहरसिंह सम्मान, 2010
12. श्रवण सहाय एवार्ड, 2012

2.7 सम्प्रति :

भगवानदास मोरवाल केंद्रीय समाज कल्याण बोर्ड (अंतर्गत महिला एवं बाल विकास मंत्रालय), भारत सरकार नई दिल्ली में सहायक निर्देशक के पद पर कार्यरत हैं। वर्ष 1987 में इस विभाग में उनकी नियुक्ति लिपिक के पद पर हुई थी, सात वर्ष सेवा के बाद उन्हें सहायक निर्देशक के पद पर पदोन्नात किया गया। वे अपनी सेवा के रुप में 29 वर्ष पूरे कर चुके हैं। अभी वह अपने छोटे परिवार के साथ पालम गाँव, दिल्ली में निवास करते हैं।

सारांश :

भगवानदास मोरवाल के साहित्यिक जीवन को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि इनका बचपन एवं शुरुआती वैवाहिक जीवन आर्थिक अभाव में बीता हुआ है। बाद में उन्हें केंद्रीय समाज कल्याण बोर्ड, महिला एवं बालविकास मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली में नोकरी मिलने के बाद परिस्थिति में बदलाव आता गया। राजनीतिक, सामाजिक एवं नैतिक विरोधों के पश्चात भी वह अपना संघर्ष करते रहे। इनका साहित्यिक क्षेत्र व्यापक संवेदनाओं, आस्थाओं और सशक्त प्रेरणाओं से भरा हुआ दिखाई देता है। उन्होंने उपन्यास विधा और कहानी विधा पर अत्याधिक लेखनी चलायी है। ९ उपन्यास और ५ कहानी संग्रह लिखकर हिंदी साहित्य जगत को समृद्ध करने का प्रयास किया है। इसके साथ ही एक कविता संग्रह और दो बाल साहित्य संपादित ग्रंथों का संपादन किया है। इसी प्रकार कहा जा सकता है कि भगवानदास मोरवाल जी का साहित्य अपने युग का प्रतिबिंब है और समय का दर्पण होकर समाज का मार्गदर्शन भी करता है।

संदर्भ सूची :

1. श्रीशरण, तुलसीदास व्यक्तित्व और कृतित्व, आधुनिक प्रकाशन, मौजपुर, दिल्ली, प्रथम संस्करण - 2002, पृ. 09
2. जया के. पी. कथाकार कमलेश्वर, पृ. 42
3. विविध भारती - Ad. www. toyotabharat पर प्रकाशित अरुण प्रकाश द्वारा लिया गया भगवानदास मोरवाल का साक्षात्कार
4. http://www. jagran.com / hariyana gutgaon-118422220 html publish on 07 Dec 2014. (IST)
5. प्रसार भारती द्वारा प्रसारित-कहानीकार अरुण प्रकाश द्वारा लिया गया भगवानदास मोरवाल का साक्षात्कार - https/. prasarbharti Archives. gov.in
6. सम्पा. डॉ. अनिल सिह, शकुंतिका : सृजन और दृष्टि, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गांधी मार्ग, प्रयागराज, पहला संस्करण - 2021, पृ. 16
7. मॅनेजर पाण्डेय - साहित्य का समाजशास्त्र, पृ. 287-22
8. भगवानदास मोरवाल, काला पहाड़, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 1999, पृ. 231
9. भगवानदास मोरवाल, काला पहाड़, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 1999, पृ. 78
10. भगवानदास मोरवाल, काला पहाड़, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 1999, पृ. 89
11. भगवानदास मोरवाल, काला पहाड़, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 1999, पृ. 160
12. भगवानदास मोरवाल, काला पहाड़, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 1999, पृ. 386

13. भगवानदास मोरवाल, बाबल तेरा देस में, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2004, पृ. 386
14. भगवानदास मोरवाल, बाबल तेरा देस में, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2004, पृ. 347
15. भगवानदास मोरवाल, बाबल तेरा देस में, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2004, पृ. 142
16. भगवानदास मोरवाल, बाबल तेरा देस में, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2004, पृ. 131
17. भगवानदास मोरवाल, रेत, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2008, पृ. 310
18. भगवानदास मोरवाल, रेत, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2008, पृ. 22
19. भगवानदास मोरवाल, नरक मसीहा, राधाकृष्ण प्रकाशन, (राजकमल प्रकाशन समुह, नयी दिल्ली), प्रथम संस्करण 2014, पृ. 235
20. भगवानदास मोरवाल, नरक मसीहा, राधाकृष्ण प्रकाशन, (राजकमल प्रकाशन समुह, नयी दिल्ली), प्रथम संस्करण 2014, पृ. 235-36
21. भगवानदास मोरवाल, नरक मसीहा, राधाकृष्ण प्रकाशन, (राजकमल प्रकाशन समुह, नयी दिल्ली), प्रथम संस्करण 2014, पृ. 235
22. मुहम्मद सज्जाद उस्मानी एवं सुधीन्द्र कुमार - उर्दू-हिंदी शब्दकोश, स्वराज प्रकाशन, अंसारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली, चौथा संस्करण 2010, पृ. 837

23. भगवानदास मोरवाल, हलाला, राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2015, पृ. 188
24. भगवानदास मोरवाल, हलाला, राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2015, पृ. 36
25. भगवानदास मोरवाल, हलाला, राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2015, पृ. 85
26. भगवानदास मोरवाल, हलाला, राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2015, पृ. 130

तृतीय अध्याय
इक्कीसवीं सदी के स्त्री केंद्रित प्रमुख उपन्यास

भूमिका

3.1 स्त्री केंद्रित उपन्यासों की पूर्वपीठिका

3.1.2 सन 1980 से 2000 तक के स्त्री केंद्रित उपन्यास

3.1.3 हिन्दी साहित्य में स्त्री केंद्रित उपन्यासों का संक्षिप्त इतिहास

3.2 प्रमुख स्त्री केंद्रित उपन्यास तथा उपन्यासकार

3.2.1 छिन्नमस्ता- प्रभा खेतान

3.2.2 कठगुलाब- मृदुला गर्ग

3.2.3 आवाँ- चित्रा मुद्गल

3.3 इक्कीसवीं सदी के प्रथम दशक के प्रमुख स्त्री केंद्रित उपन्यास

3.3.1 अल्मा कबूतरी- मैत्रेयी पुष्पा

3.3.2 सीता मौसी- रमणिका गुप्ता

तृतीय अध्याय
इक्कीसवीं सदी के स्त्री केंद्रित प्रमुख उपन्यास

भूमिका

पुरे विश्व में सामाजिक बदलाव बडी तेजी से हो रहे हैं। इसलिए स्त्रीवादी लेखन वर्तमान समाज की एक जरूरत हो गयी है। आधुनिकता और उस से प्रभावित उदारवाद की सोच तमाम दावों के बावजूद स्त्री की सामाजिक अवस्था या उसके उत्थान में कुछ खास परिवर्तन नहीं आ सका है। आज भी स्त्रिया समझौतों तथा घर एवं बाहर के दोहरे कार्यभार के बिच पिस रही है। पुरुष सत्ता की नीति हमारे समाज में इतनी गहरी तहों तक जमी हुई है कि, उससे उभरना आसान कार्य नहीं है। इन सब अवस्थाओं में भी स्त्रियाँ अपने-अपने क्षेत्र में रहकर अपनी लडाई लडती रही दिखाई देती हैं। जिसका परिचय हमें हिन्दी के स्त्री केंद्रित उपन्यासों को पढने से हो जाता हैं।

उपन्यास साहित्य में स्त्री चेतना ने अपना अस्तित्त्व पूरी गहराइयों से अभिव्यक्त किया हैं, किन्तु तथाकथित स्त्री चेतना केवल बौद्धिक स्तरों तक ही सीमित होकर रह गई है। आम स्त्रियों तक यह चेतना की अनुगूंज पहूँच ही नहीं पाती, जिन्हें सही अर्थों से इसकी जरूरत महसूस होती हैं। क्योंकि, रचनाकार या उपन्यासकार अलग जाकर स्त्री चेतना विषयक संदेश नहीं दे सकतें, उनकी अपनी सीमाएँ तय होती हैं। वे उस डॉक्टर की तरह आपना कार्य करते हैं, जिसे सामाजिक रोग के कारण तो पता होते हैं और इसका इलाज करने की दिशा में राय भी देते हैं किन्तु, प्रत्यक्ष रूप में इलाज नहीं कर सकते है। इसे उनकी विवषता भी कहा जा सकता हैं।

इस विषय में वरिष्ठ चिंतक तथा रचनाकार सुधा अरोडा का व्यक्तव्य मार्मिक ठहरता है। वह कहती है, ''फेमिनिस्ट शब्द हमारे यहाँ लगभग गाली के रूप में ही इस्तेमाल किया जाता हैं। बहुत सी महिलाएँ भी इस विशेषण से परहेज करती हैं। जब

की फेमिनिस्ट (स्त्रीवादी) होने का सीधा-साधा अर्थ है, औरतों के प्रति एक जुडाव या सरोकार...और कोई भी पढा-लिखा संवेदनशील व्यक्ति एक शोषित कौम के हक में खडा होने सें इनकार नहीं कर सकता।''[1]

स्त्री-विमर्श को लेकर हमारें यहाँ बहुत सी भ्रातियाँ पाई जाती हैं। सब से बडी भ्रांति यह है कि स्त्री-चेतना या स्त्री-विमर्श को 'विमेन लिव' या स्त्री-मुक्ति का पर्याय मान लिया जाता है। यह मुक्ति या आजादी स्त्री को पुरुष वर्चस्व से अपने देह तक की ही अपेक्षित है या उसके सशक्तिकरण या जागरूकता के संदर्भ में अपेक्षित है, इस बात को वे सही अर्थों में समझ नहीं पा रही यह दिखायी देता हैं।

समकालीन हिन्दी उपन्यास साहित्य के फलक पर औरत के स्थिति के प्रति इस जागरूकता के साथ ही स्त्री केंद्रित रचनाओं या रचनाकारों की कृतियों को 'नारीवादी साहस' या 'बोल्डनेस' आदि के नाम से दूषित करने का कार्य भी होने लगा है। यह बात किसी भी समाज के लिए सम्मानजनक नहीं हो सकती।

नारी मुक्ति का एक दूसरा मत प्रवाह यह भी है कि, आधुनिक स्त्री को अपनी देहपर स्वयं का अधिकार और उस देह की स्वतंत्रता है। इस तरह का मत प्रवाह पुरुष वर्ग का ही रहा हैं। इसके कारण स्त्री-विमर्श, स्त्री-चेतना से जुडे अन्य महत्त्वपूर्ण पहलुओं को दरकिनार कर दिया जाता हैं। इस तरह की छद्म विचारधारा के चलते स्त्री-पुरुष के यौन सम्बन्ध एवं उनसे होनेवाली सामान्य हानियों को अपेक्षाकृत बढा-चढाकर पेश किया जाने लगा है। इसके लिए उच्च वर्ग के लोग 'आल्मा कबुतरी' में आए 'रतिक्रिडा' जैसे प्रसंगों का आधार भी लेते दिखाई देते हैं। किन्तु, स्त्री मन को उसकी भावनाओं को हाशिए पर रखकर इस तरह की टिकाए करना उचित नहीं हो सकता हैं क्योंकि, असलियत समझने तक कदमबाई के हाथ से समय निकल गया होता है और अब 'प्रतिसाद' देने के अलावा उसके सामने कोई चारा नहीं रहता है। यहाँ कदमबाई की

मनोदशा में जानेवाला ही उसकी अवस्था समझ सकता है। तभी वह टिकाकार समझेंगे कि, कदमबाई का प्रतिसाद एक सामान्य बात है किन्तु, उसका पति, पति होने का एहसास दिलाकर उसके अंग-प्रत्यांगों को खेलनेवाला कितना छलियॉ है इस पर यह लोग कुछ नहीं बोलते हैं। मंसाराम जैसे लोगों का पक्ष लेनेवाला पुरुष वर्ग स्त्री सुधार या स्त्री चेतना के रास्ते में आनेवाले पत्थर हैं, जिन्हें आसानी से मार्ग से हटाया भी नहीं जा सकता। क्योंकि, धर्मसंस्था का उन्हें भरसक आश्रय प्राप्त होता हैं। जबकि, साहित्य मनुष्य की मानवता को जिलाएँ रखने की कोशिश करता है, तब उसमें निहीत सत्य को नकारकर अनावश्यक घटनाओं पर लक्ष केंद्रित करना उचित नही ठहरता है। स्त्री-मुक्ति, स्त्री-चेतना भी मानवता से अपने-आप को जोडने का और मनुष्य के रूप में स्वीकार किए जाने का अभियान है। इसमें संदेह नहीं कि,हिन्दी उपन्यासों में स्त्री को केंद्र में रखकर इस विषयक समस्यांओं को लेकर लिखने की जो परंपरा 1980 के बाद शुरू हुई थी उसमें अब अधिक धार आ रही है। अब इसके गांभिर्य को नकारा नहीं जा सकता है।

वर्तमान में अब यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि, आने वाले समय में हिन्दी उपन्यास साहित्य में स्त्री की भूमिका पारंपरिक परिदृश्य में न रहकर बदली हुई दिखाई दे रही हैं। और यह बात सकरात्मक दृष्टिकोण से देखती होगी।

इसलिए स्त्री को केंद्र में रखकर लिखे गए साहित्य विशेष कर उपन्यास साहित्य को लेकर अलग से रेखांकित करने की जरूरत महसूस होती है। वर्तमान समय में स्त्री साक्षरता का प्रतिशत बढकर अब वह 20 प्रतिशत हो गया है। जिस से स्त्री-जागृती या स्त्री-चेतना भी बढ रही है। स्त्री अपनी समस्यांओं को तथा उनके कारणों को जान रही हैं। अब उसे घर की दीवारों में कैद कर नहीं रखा जा सकता। जीवन के हर क्षेत्र में अब वह अपना अस्तित्त्व सिद्ध कर रही हैं। अतः ऐसी हालातों में केवल स्त्री-शोषण और

अत्याचार की ही बातों को लेकर लिखा जाना या विमर्श होना उचित नहीं ठहरता बल्कि, अब इसका दायरा व्यापक होना आवश्यक है।

स्त्री केंद्रित उपन्यासकारों ने इसी बात को अपने उपन्यासों के द्वारा पाठकों तक पहुँचाने का महत्त्वपूर्ण प्रयास किया हैं।

3.1 पूर्वपीठिका -

प्रेमचंद के अनुसार उपन्यास मानव मन का चित्र मात्र होता है। ''आरंभिक हिन्दी उपन्यासकारोंने अँग्रजी के 'नॉवेल' के प्रभाव में आकर उपन्यास लिखें हैं। लाला श्रीनिवासदास के 'परिक्षागुरू' को हिन्दी का पहला उपन्यास मान लिया गया है।''[2] कुछ विद्वान इसमें उपन्यास के तत्त्व न होने का दावा करते हुए मौलिक उपन्यास नहीं मानते हैं, यह बात और है।

आगे सृजनशील रचनाकारों ने इस अँग्रेजी के प्रभाव से अपनी कृतियों को बचाने की कोशिश की जिनमें जगमोहनसिंह (श्यामास्वप्न) और बंकिमचंद्र चटर्जी (दुर्गेश नंदिनी, कपाल कुंडला, मृणालिनी) आदि उपन्यासों का योगदान महत्त्वपूर्ण रहा हैं। इन्होंने उपन्यास की रोमांचकारी अँग्रेजियत प्रभावित शैली को बदल दिया और आधुनिकता के धरातल पर यथार्थपरक उपन्यासों का सृजन किया। उपन्यासों में रोमांस के तत्त्व होते हैं किन्तु, उसका निर्वहन कहाँ तक किया जाए इसको भी महत्त्व होता है। इस विषय में नामवर सिंह ने कहा है कि, 'रोमांस पाश्चात्य साहित्य से भारतीय साहित्य में आया किन्तु, भारतीय ढंग से उसे चितारा गया। अंग्रेजी प्रभाव से निर्मित रचनाएँ विफल रही किन्तु, इसी विफलता ने भारतीय उपन्यास की सार्थकता निहित हैं।'[3]

इस दौर से गुजरते हुए उन्नीसवींशताब्दी के अन्त तक भारतीय उपन्यास को अपनी पहचान मिल गई थी। उपन्यासकारों को ऐतिहासिक सामग्री विपुल मात्रा में होने

से वे उस दिशा में अग्रेशित हुए। ऐतिहासिक समग्री से अतित के पलों को पकडकर वे कथा को आकार देने लगे। उनका यह प्रयास बहुत हद तक कामयाब रहा है।

भारतीय साहित्य में उपन्यास का मूल निकष भारतीय यथार्थ को माना जाता है। जीवन की सापेक्षता के तत्त्व का इसमें यथायोग्य निर्वहन होता है। उपन्यासों में मार्मिकता तभी संभव होती है, जब लेखक या रचनाकार स्वयं अनुभोक्ता होता है। इससे प्रेरित हो कितने ही उपन्यासकारों ने उपन्यास लिखे हैं। अपना ऐतिहासिक अस्तित्त्व सिद्ध करने में 'स्त्री केंद्रित' उपन्यासों का गहरा योगदान सिद्ध हो गया हैं और वर्तमान समय में वह और भी प्रबल होने की दिशा में आगे बढ रहा है।

हिन्दी के उपन्यास साहित्य में स्त्री केंद्रित चित्रण यह कोई नयी बात नहीं है। आरंभ से लेकर वर्तमान समय तक कितने ही उपन्यासों में स्त्री को प्रमुखता से या उप-प्रमुखता से चित्रित किया गया हैं। यह बात और हैं कि, तब वह दुय्यम भूमिका में ही अधिक चित्रित होती रही थी। किन्तु, अब 'स्त्री' ने उपन्यास की प्रमुख नायिका के रूप में अपना अस्तित्त्व बरकरार कर लिया है। हम 1935 में प्रकाशित प्रेमचन्द का 'गोदान' उपन्यास ले सकते हैं, जिसमें दर्जनों स्त्री पात्र अपना प्रभाव छोडते हुए दिखते हैं। जिनमें धनिया, झुनिया, मालती, रुपा, सोना, सरोज, सिलिया आदि स्त्रीपात्र अपनी विशेष छाप छोडते हैं। धनिया, झुनिया ये परंपरावादी स्त्री पात्र के रूप में उभरते हैं, वही मालती जैसे आधुनिकता का दामन थामती हुई, परंपराओं से कटती हुयी दिखाई देती है। प्रेमचन्द जी के पूर्व भी स्त्रियों को केन्द्र में रखकर उपन्यास लिखे गए हैं। पश्चिम बंगाल के विभूतिभूषण बंदोपाध्याय का नाम सर्वोपरी ठहरता है। उनके 'आरण्यक', 'अपराजिता' और 'पथेर पांचाली' का नाम निर्देश करना आवश्यक ठहरता है।

आरण्यक उपन्यास में कलकत्ता (कोलकाता) के करीब के प्रांत में रहनेवाली बस्ती का चित्रण आया है, वहाँ केट राजा की पुत्री का नाम भानुमती है, जिस पर

उपन्यास का सुशिक्षित नायक स्नेह करता है और उससे विवाह कर वह इनकी की ही दुनिया में बसना चाहता है। भानुमती का चित्रण करते हुए उपन्यासकार लिखते हैं कि, ''उसकी वन्य निर्दोशता के कारण उसके व्यवहार में खुलापन है और बहुतही स्नेहिल है। मुनीम उसकी मोहकता लुब्ध हो जाती है।''[4]

हंस कुमार तिवारी द्वारा इस मूल बंगाली भाषा के उपन्यास का हिन्दी में अनुवाद किया गया है। आरण्यक के साथ-साथ इनके पथेर पांचाली तथा अपराजिता आदि उनके स्त्री केंद्रित उपन्यास माने जाते हैं, जिनकी लोकप्रियता आज बरकरार रही है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हिन्दी साहित्य जगत में उपन्यासों की संख्या में गुणात्मक वृद्धी हुई, इसमें पुरुष लेखकों के साथ-साथ स्त्रियाँ भी शामील रही हैं बल्कि, स्त्री की मनोदशा को स्त्री लेखिकाओं ने अधिक सशक्त के साथ चित्रित किया है। आज से पचास साल पहले इन महिला लेखिकाओं को साहित्य क्षेत्र में एक सन्माननिय दर्जा नहीं मिल सका था। बल्कि उनके लेखन कार्य को 'उबी हुई सुखी महिलाओं का लेखन' करार दिया जाता रहा।

फिर भी वर्तमान के हिन्दी उपन्यास जगत में लेखिकाओं की संख्या विपुल हो गई हैं। अब उसे फुरसती लेखन या चार दिवारों का 'कैद' साहित्य नहीं कहा जा सकता है। विषय वैविध्य की दृष्टि से यह लेखन चर्चा के केंद्र में रहा है।

आजादी के बाद भी सरकार स्त्री-सुधार की योजनाएँ देहातों में पहुँचाने में अक्षम रही। परिणामत: देहाती स्त्री जीवन बद से बदतर होता गया। गाँवों तथा कसबों की अवस्था तो इतनी गंभीर हो गई हैं कि, वहाँ स्त्री होना अभिशाप सा हो गया हैं। उसे अपनी देह और आत्मसम्मान को बचाकर रखना दुसाध्य हो गया है। बिहार के देहातों में लडकी को जन्म लेते ही उसके मुँह में मुठ्ठीभर नमक डालकर उसे मार दिया जाता है। किसी परिवार से बदला लेना हो तो उस परिवार की स्त्री को निर्वस्त्र कर के गाँवभर में

घुमाया जाता है। सर्वेक्षण से यह पता चला हैं कि, भारत में हर दो घंटे में दहेज के कारण एक स्त्री की हत्या हो रही है। बलात्कार की घटनाएँ तो दिन-प्रतिदिन बढती ही जा रही है। इन जैसी कितनी घटनाओं को स्त्रीवादी उपन्यासों की कथावस्तुओं के केंद्र में रखा गया है। कुछ उपन्यासों में स्त्री के व्यक्तित्त्व को सामान्य स्तर से उंचा उठाया जाता है, तो कभी स्त्री पात्र सामान्य सी अवस्था में यथार्थ को भोगती हुई नजर आती है। जैसे गोदान की धनिया उपन्यास के अन्त तक सामान्य जीवन जिती है। अल्मा कबुतरी की कदमबाई भी इसी तरह का जीवन व्यतित करती दिखाई देती है। वही गोदान की मालती या अल्मा कबुतरी की आल्मा, या रेत उपन्यास की निर्मला आदि स्त्री पात्र सामान्य जीवन से संघर्ष कर बुलंदियों तक पहुँचती दिखाई देती है। स्त्री अस्मिता की पहचान बनाने में सक्षम दिखती है।

एक स्त्री का दूसरी स्त्री के प्रति का उपेक्षा भाव या परस्पर नकारात्मक भूमिका को भी उपन्यासकारों ने स्पष्ट किया हैं। सास-बहू के झगडे, असूया भाव, उपेक्षा, श्रृंगार, प्रियता आदि बातों के अलावा स्त्री जाति के उत्कर्ष को लेकर समकालीन उपन्यासकार प्रयत्नशील होते दिखाई देते हैं। ऐसे कितने ही उपन्यास हैं जिसमें स्त्रियों की इस मानसिकता को बदलने का प्रयास हुआ है। लडकी को पराया धन कहकर हीन भावना से देखनेवाली सब से पहली स्त्री उसकी माँ होती है। एक माँ के इस नजरिए को बदलकर रखने से शायद एक स्त्री-दूसरी स्त्री का सम्मान करने लगेंगी। डॉ. विद्या शिंदे का कथन है कि, ‘‘हमारे समाज में जो अनेक समस्याएँ बनाई गयी हैं, जो स्त्री को हमेशा उपेक्षित रखती हैं, ऐसी परम्पराओं को छेद देकर नई सम्भावनाओं को उजागर करने का साहस इन उपन्यासों के माध्यम से किया गया हैं।’’[5]

डॉ. मनिष कुमार समकालीन स्त्री केंद्रित उपन्यासों के विषय में अपने विचार व्यक्त करते हैं - ‘‘रूढ परंपरागत मान्यताओं का कवच हमारी रक्षा नहीं कर सकेगा,

अपितु हमारे लिए यह घातक होगा। हमें आधुनिक भाव बोधों का अग्रदूत बनना होगा। वंचित-विरहित के बीच सम्भावनाओं का नया द्वार खोलना होगा।''[6]

लाला श्रीनिवासदास तथा भारतेंदू हरिश्चंद्र कालीन अर्थात, आरंभकालीन उपन्यासकार ठहरते है। उपन्यास नई परिस्थितियों एवं समस्याओ के अपने में समेटकर चलता है। इसी नविनता के साथ हिन्दी उपन्यास का जन्म हुआ। ''परीक्षागुरू जीवन के विकासशील तत्त्वों की पहचान कराता है और मरणशील तत्त्वों पर चोट कर नवीन मानस गढने का प्रयास करता है।''[7]

आगे प्रेमचन्द युग में भी इस तरह का परिवर्तन स्पष्ट दिखाई देता है क्योंकि, अब स्त्रियाँ घर की दहलीज को लाँधकर बाहर स्व के अस्तित्त्व को तलाशती नजर आती है। गोदान के मालती के चरित्र को इस सन्दर्भ में हम देख सकते हैं।

प्रेमचन्दोत्तर युग में जैनेन्द्र को एक सशक्त उपन्यासकार माना जाता है। जैनेन्द्र समाज में आनेवाली नई समस्यांओं को प्रस्तुत करते दिखाई देते हैं। मध्यमवर्ग की मौका-परस्ती और अन्तर्विरोधों को उनके उपन्यासों में पाया जाता है। स्त्री विषयक उनके विचारों को व्यक्त करते हुए बीना जैन कहती है - ''इस समाज के पुरुष वर्ग का उदार चेहरा भीतर से कितना संकिर्ण और सामन्ती नैतिकता का शिकार है जो 'नारी' के व्यक्तित्त्व को उभरने ही नहीं देना चाहता। जैनेन्द्र की चिंता का मुख्य कारण यही है।''[8]

प्रथम विश्वयुद्ध (1914-18) के बाद देश में औद्योगिक क्रान्ति ने समग्र मानवी जीवन प्रभावित हुआ। सैकडों की तादात में लोग गाँव छोडकर शहरों की ओर भागने लगे। इस वजह से शहरों के जनजीवन में भी कई समस्याएँ निर्माण हो गई। कम्पनियों में अधिक से अधिक मजूरी करने पर भी उचित मूल्य नहीं मिलता था। अत: चोरियाँ, वेश्या व्यवसाय, मार-काट, भ्रष्टाचार जैसी वारदातें आए दिन घटित होने लगी। इस वजह से शहरी स्त्री जीवन के साथ-साथ ग्रामीण स्त्री जीवन भी खतरें में आ गया।

1974 में प्रकाशित जगदम्बा प्रसाद के 'मुरदाघर' उपन्यास में स्त्री जीवन की इसी मनोदशा का चित्रण किया गया है। नागरीकरण की प्रक्रिया में एक सामान्य स्त्री को एक के बाद एक ऐसे कितने ही मर्दों का सहारा लेना पडता है, फिर भी वह इस प्रवाह में नहीं आ सकती और एक वेश्या से भी बदतर जीवन जीने पर विवश हो जाती है।

उपन्यास की नायिका रोजी है। अन्य औरतों की तरह उसका भी पति था। वह उसे छोडकर जाने के बाद वह दूसरा मरद करती है और यही सिलसिला इस हद तक चलता है कि, जब उसे खाना खिलानेवाला भी उसका मरद हो जाता था। उसकी इस विवशता का चित्रण करते हुए उपन्यासकार लिखते हैं - ''पहला चला गया छोडकर...दूसरा आया। शादी नहीं बनाया थोडे दिन का साथ...निकाल दिया रोजी को। ...फिर तिसरा...फिर चौथा... । फिर जिसने खिला दिया रोजी को...हो गया रोजी का मरद। हर हफ्ते के बाद हर रात...नया मरद। मगर हारी नहीं रोजी। जारी रही मरद की तलाश।''[९] भगवानदास मोरवाल के नरक मसीहा को पढकर पाठक को इस उपन्यास का स्मरण हो जाना स्वाभाविक है क्योंकि, दोनों उपन्यासों के सन्दर्भ अलग होकर भी स्त्री समस्याओं को केंद्र में रखा गया है, जो एक ही धरातल का प्रतित होता है।

इस उपन्यास की एक अन्य स्त्री पात्र मैना है, उसका पति उसे ब्याह कर शहर ले जाता है और धंदे पर लगा देता है। आखिरकार यह मैना जब बरदाश्त नहीं कर पाती तो वह आक्रमक हो उठती है। यह स्त्री चेतना की चिंगारी ही होती है। मैना उसे बार-बार छोडकर जाती है और वह भी उसे ढूँढ-ढूँढकर वापस लाता है। किन्तु इस बार वह नहीं मानती। वह आत्महत्या की धमकी देता है, फिर भी मैना नहीं मानती और दूसरे हाथ से उसे घुँसे मारती हुई गला फाडकर कहती है...कमीन चोट। डुक्कर की अवलाद, तू भोत तकलीफ दिया मेरे कू...भोत रूलाया। तेरा मुरदा...तेरी मैयत।[10] मैना भी रोजी की तरह आक्रमक हो उठती है और पुरुषी वर्चस्व को ठुकराती है। वह आवाज

चढाकर पति पोपट से जवाब माँगती है- ‘‘सब लोग कू मालूम है।...मै खुद बोलती- मैं रंडी हूँ। ...और तू...मेरा मरद हो के मेरे से अइसा काम करवाता है...मेरी कमाई खाता है।’’[11]

दूसरी ओर अकाल के कारण होनेवाली स्त्री की अवस्था का चित्रण भी उपन्यासकारो ने किया है। जगदम्बा प्रसाद दिक्षित के ‘अकाल’ उपन्यास की नायिका ‘रामनिहोरी’ को पति जगदिश शादी के तुरंत बाद अपने घर रखकर मुंबई चला जाता है। क्योंकि, अकाल के कारण गाँव में गुजर-बसर नहीं हो सकती। नोकरी की तलाश में शहर जानेवालों की बीवियों पर डौरे डालनेवाले लोग बाहर और घर दोनों तरह के होते है। रामनिहोरी अपने-आप को बाहर के लोगों से तो बचा सकी किन्तु, रामप्रसाद काका से वह नहीं बच सकी। दोनों में संबंध होते हैं और रामनिहोरी को गर्भ ठहर जाता है। दूसरी ओर उसका देवर जो उपन्यास का नायक है वह भी भाभी के प्रति आकर्षित होता है। रामनिहोरी को अपनी गलती का पता है और वह यह गलती और करके अपने देवर की जिन्दगी खराब नहीं होने देना चाहती। देवर उसे जब अपने साथ मुंबई चलने के लिए कहता है, तब उसका जवाब समर्पक तथा विचारणीय होता है। वह कहती है- ‘‘तुमने कुछ बुरा नहीं चेता भैया...हमने ही अपना सब बिगाड लिया है।... हम ही अपने बैरी हो गये है। हमारी तो ...मिट्टी खराब हो गयी।...अब तुम्हारा जीवन भी खराब करें?"[12]

अपने पारिवारिक तथा सामाजिक दायित्व के प्रति सजग स्त्री के रूप में रामनिहोरी का चित्रण अकाल उपन्यास में किया गया है।

सन 1980 से लेकर अब तक के स्त्री केंद्रित उपन्यासों का परिदृष्य व्यापक स्तर पर उभर आया है। इसके विषय अत्यंत वैविध्यपूर्ण एवं विशद प्रतित होते हैं। आधुनिक स्त्री-चेतना को प्रकट करने वाले स्त्री केंद्रित उपन्यासकारों ने समसामायिक स्त्री

के जीवन स्थितियों की जटिल अनुभूतियों तथा साहसिक कृत्यों का बारिकी से चित्रण किया है। समकालीन हिन्दी उपन्यास साहित्य समसामायिक भारतीय समाज की ही उपज है। समकालीन परिदृष्य में स्त्री की खुद की सोच और इस के प्रति समाज के नजरिए में अमुलाग्र सा बदलाव आता दिखाई देता है, जिसकी समर्थ अभिव्यक्ति एवं प्रवृत्तियों की पहचान उपन्यास साहित्य के माध्यम से कायम हो सका है।

महिलावादी चेतना का उभार आधुनिक बौद्धिक विमर्श से ही संभव हुआ है। अत: यह स्वाभाविक ही है कि, इस बौद्धिक चेतना का पोषण उपन्यास साहित्य के माध्यम से हो। आज से पचार वर्ष पूर्व स्त्री केंद्रित साहित्य को जो पारंपरिकता का जामा पहनाया गया था, समकालीन स्त्री अब उस जामें से अपने-आप को अलग कर सकी है, जिसका श्रेय स्त्री केंद्रित उपन्यासकारों को दिया जान अनिवार्य है। इसलिए इनकी आलोचना का दायरा भी व्यापक हो चला है।

हम देखते हैं कि,1980 तक के उपन्यासों में स्वाभाविक रूप से स्त्री के त्याग, प्रेम के साथ उसके मांसल शरीर का भी चित्रण आया है। उस समय सुभद्राकुमारी चौहान, शिवरानीदेवी तथा सुमित्राकुमारी सिन्हा जैसी महिला रचनाकारों ने भी कथा लेखन, उपन्यास लेखन में योगदान दिया हैं। इन के अलावा मन्नू भंडारी का योगदान अधिक महत्त्वपूर्ण ठहरता है। उन्होंने महाभोज, आप का बंटी जैसे उपन्यास देकर स्त्री चेतना में अपना योगदान दिया है।

'ईश्वर द्वारा त्याज्य संसार का महाकाव्य ही उपन्यास होता है।'[13] इस उक्ति का स्मरण करानेवाले ऐसे कितने ही उपन्यास इस काल में लिखे गए हैं, जिनमें स्त्रियों की अनेकविध समस्याओं को उद्‌घटित किया गया हैं।

3.1.3 हिन्दी साहित्य में स्त्री केंद्रित उपन्यासों का संक्षिप्त इतिहास

भारत में न केवल हिन्दी में बल्कि अन्य कितनी ही भाषाओं में पिछले सौ वर्षों से स्त्री को केंद्र में रखकर रचनाकर्म हो रहे हैं। बंगाल में निरुपमादेवी, स्वर्णकुमारी, ज्योतिर्गमयीदेवी महाराष्ट्र में ताराबाई शिंदे, काशीबाई कानेटकर, रमाबाई रानडे आदि द्वारा सामाजिक स्तर का साहित्य लिखा गया। पिछले पचास वर्षों में विश्व भर की सभी भाषाओं में स्त्री केंद्रित साहित्यकारों की संख्या में बाढ सी आ गई है। यही वजह है कि आज स्त्री केंद्रित साहित्य का स्वतंत्ररूप से अध्ययन किया जाना अनिवार्य हो जाता है।

स्त्री संबंधित समस्याओं को केंद्र में रखकर व्यापक धरातल पर उसे जनहित की दिशा में अग्रेषित करने का कार्य साहित्यिकों द्वारा आरंभिक (भारतेन्दू) युग से किया था। भले ही उसकी व्यापकता सीमित रही है, किन्तु नींव की इंट होने का साहस इन साहित्यकारों ने किया था, इस सत्य से मुँह नहीं फेरा जा सकता।

नारी केंद्रित साहित्य सृजन भारतेन्दू से ही आरंभ होता हुआ दिखाई देता है। भले ही वह अल्प मात्रा में हुआ हो। स्वातंत्र्य प्राप्ति के बाद स्त्री केंद्रित साहित्य में विशेष कर उपन्यास लेखन में परिवर्तन आया। भारतेन्दू युग में महिला लेखिकाओं की संख्या कम थी, अब वह भी बढ गई थी। बल्कि पुरुष लेखकों की अपेक्षा इन स्त्री लेखिकाओं द्वारा स्त्री समस्याओं को अधिक गहराईयों तक अभिव्यक्त किया है। डॉ. माधव सोनटक्के ने स्त्री-पुरुष उपन्यासकारों के भेद को स्पष्ट करते हुए कहा है - ‘‘नारी समस्या के प्रति पुरुष लेखक तथा महिला लेखिकाओं की दृष्टि में अन्तर है। पुरुषप्रधान संस्कृति के संस्कारों से ग्रस्त वर्तमान व्यवस्था में अपनी तथाकथित वैज्ञानिक दृष्टि एवं प्रजातांत्रिक मूल्यों के बावजूद स्त्री-समाज की दशा में अपेक्षित सुधार नहीं हो पाया हैं। अपितु देखा यह जाता है कि परम्परागत शोषण औजारों के साथ नये औजार भी अविष्कृत हुए हैं। इसलिए स्त्री शोषण की व्याप्ति और भी बढ गयी है।"[14]

इस तरह के शोषण से मुक्ति के लिए स्त्री अब औरों के भरोसे रहनें की मानसिकता में नहीं है। क्योंकि उसने अनुभव किया है कि शोषण-मुक्ति के नाम पर भी उसका शोषण होता रहा है। कई दिनों तक यह कहा जाता रहा था कि, आर्थिक परावलम्बन उसके शोषण के लिए जिम्मेदार है। कामकाजी महिलाओं का घर में तथा कार्यालयीन कामकाजों में भी हर संभव शोषण किया जाता है। अपनी समूची योग्यता के बाद भी घर और समाज में उसे दोयम दर्जाही मिलता रहा है। तथाकथित आयातित विचारों से मुक्ति उसे अपने प्रयत्नों से ही प्राप्त हो सकती है। यही वजह है कि अब वह अपनी दृष्टि से अपने समाज तथा अपने-आप का परिवर्तन कर रही है। इस दिशा में हिन्दी उपन्यास विधा में जो प्रयास हुए है उनमें का सही मायने में सूत्रपात उन्होंने किया है। उनके 'सूरज मुखी अन्धेरे के' इस उपन्यास ने स्त्री-चेतना को नया मोड दिया है, जो 1970 में प्रकाशित हुआ था। इस विषय में यह उपन्यास मील का पत्थर ठहरता है।

इस उपन्यास की नायिका के साथ बचपन में हुए बलात्कार से बनी मानसिकता का चित्रण इस तरह है कि पाठक को तथाकथित आडंबनपूर्ण सभ्यता की नींव ही डावाडौल होती नजर आती है। 'जिन्दगीनामा', 'दिलोदानिश', 'ए लडकी;डार से बिछुडी', 'मित्रो मरजानी' आदि उनके अन्य उपन्यासों में भी स्त्री की अनेक समस्याओं का चित्रण मिलता है। उन्ही के समकक्ष उपन्यास लेखन करनेवाली उषा प्रियवंदा भी इसी परंपरा में आती है। उनके 'पचपन खंबे लाल दिवारें', 'रूकोगी नहीं राधिका', 'शेष यात्रा' आदि चर्चित उपन्यास है। मन्नू भंडारी का 'एक इंच मुस्कान' तथा 'आपका बंटी' भी स्त्री मानसिकता के चित्रण को व्यापक स्तर पर लाते है।

शशीप्रभा शास्त्री के 'नावें', 'सीढिया', 'उम्र एक गलियारे में' आदि उपन्यास अलग-अलग वर्ग की स्त्रियों की मानसिकता एवं द्वंद्वात्मकता को स्पष्ट करने वाले ठहरते

हैं। मध्यमवर्गीय स्त्री जीवन की विडम्बनाओं विशेष कर प्रेमविवाह और सेक्स सम्बन्धी दोहराई मान्यताओं का सजीव चित्रण कृष्णा अग्निहोत्री के 'बात एक औरत की' और 'कुमारिकाएँ' इन उपन्यासों में आया है। कुसुम अंसल के 'उसकी पंचवटी', 'उस तक' और 'रेखाकृति' आदि उपन्यासों में स्त्री जीवन की समकालीन विसंगतियाँ उजागर हुई हैं।

इंदिरा दीवान का 'केतकी के प्रोफेसर' स्त्री मन की दृढता को व्यक्त करता है। मंजुल भगत के उपन्यासों में उच्चवर्ग तथा मध्यमवर्ग के साथ निम्नवर्ग की स्त्रियों का मार्मिक चित्रण किया गया है। इस दृष्टि से उनका 'अनारो' यह उपन्यास काफी महत्त्वपूर्ण ठहरता है। मध्यमवर्गीय कामकाजी स्त्री तथा उसके जीवन का द्वंद्व आदि का सशक्त चित्रण निरूपमा सेवती के 'पतझड की आवाजें', 'मेरा नरक अपना है','दहकन के पार' आदि उपन्यासों में हुआ है।

मृदुला गर्ग तथा प्रभा खेतान के उपन्यास अपने बोल्डनेस के साथ ही नयी सोच के कारण चर्चित रहे हैं। मृदृला गर्ग के 'चितकोबरा', 'वंशज', 'मैं और मैं', 'उसके हिस्से की धूप', 'अनित्य', तथा 'कठ गुलाब' इन सभी उपन्यासों में स्त्री चित्रण के इर्द-गीर्द में व्याप्त खोंखली सभ्यता का चित्रण मिलता है। इस खोंखली पुरुष सभ्यता पर उपन्यासकार मृदुला गर्ग ने करारा आघात किया है। उनका एक लेखकीय सन्दर्भ में अपना मत था कि उत्कृष्ट वृत्ति तब जन्म लेती है, जब वह समकालीन सांस्कृतिक सत्ताद्वारा प्रतिपादित मूल्यों पर प्रश्नचिन्ह लगाने लगती है। साथ ही एक नया संसार बनाने की ललक की जरूरत भी सशक्ति से व्यक्त करता है।

अन्य लेखिका में प्रभा खेतान का नाम लेना भी आवश्यक है। उनके उपन्यास भी स्त्री-चेतना की दिशा में महत्त्वपूर्ण सिद्ध होते हैं, जिनमें परम्परागत जीवनमूल्यों पर ही प्रश्नचिन्ह लगाकर एक नए संसार की आवश्यकता को व्यक्त किया है। उनके 'छिन्न

मस्ता', 'तालाबन्दी', 'अपने-अपने चेहरे', 'पिलीआँधी' आदि उपन्यास इसी बात को प्रमाणित करते हैं।

स्त्री के स्वतंत्र व्यक्तिमत्त्व तथा स्वतंत्र सोच की दृष्टि से राजी सेठ के 'तत्सम' और 'निष्कवच' यह उपन्यास भी उल्लेखनीय ठहरते हैं। तत्सम की नायिका वसुधा विधवा है, जो अपने सद्विवेक से पुनर्विवाह के लिए राजीक होकर स्वयं के लिए पति का चयन भी कर लेती हैं। निष्कवच मूल्यों के संक्रमन को रेखांकित करने वाला उपन्यास ठहरता है।

स्त्री केंद्रित उपन्यासों का एक सशक्त हस्ताक्षर के रूप में मैत्रेयी पुष्पा का योगदान भी अभूतपूर्व ठहरता है। 'स्मृतिदंश', 'बेतवा बहती रही', 'इदन्नमम' तथा 'चाक' ये उनके स्त्री केंद्रित उपन्यास रहें हैं।

इस धारा की अन्य उपन्यास लेखिकाओं में अजीत कौर (धूपवाला शहर), ऋचा शुक्ला (समाधान), गीतांजली श्री (हमारा शहर, उस बरस), ज्योत्सना मिलन (अ अस्तु का), शांती जोशी (राजुल), रजनी पनिकर (दूरिया), नमिता सिंह (अपनी सलीबें), मृणाल पाण्डे (पटरंग पुर पुराण), नासिरा शर्मा (सात नदियाँ एक समंदर) आदि का नामोल्लेख करना भी आवश्यक ठहरता हैं।

मालती जोशी तथा सूर्यबाला के उपन्यासों में अधिकतर दाम्पत्य और परिवार से सम्बन्धित समस्याओं का अंकन पाया जाता है। इस दृष्टि से मालती जोशी के 'पाषाण युग' और 'सहचारिणी' सूर्यबाला के मेरे संधिपत्र आदि भी महत्त्वूपर्ण ठहरते हैं।

जैनेन्द्र के उपन्यासों में एक हाडमांस की स्त्री अपने अलग-अलग रूपों में चितारी गयी है। साथ ही उसकी कमजोरियों, खामियों तथा खुबियों का भी दिखाई देता है। यह उस सामाजिक स्थिति का प्रतिफलन है जहाँ आजादी की लडाई में स्त्री, पुरुषों

के साथ घर की दहलीज को लाँघकर बाहर आई थी और आजादी के बाद उसे वापस अपने घर में जान पडा। यही वजह है कि आजादी के बाद के लेखन में स्त्री का एक यथार्थपरक रूप तो उभरता है पर यह मन के अन्तद्वंद्व और आन्तरिक संशय के कंधों पर ही टिका हुआ दिखाई देता है।

लेखकीय कर्म से किसी समस्या का समाधान नहीं ढूँढ सकते या उसे जड से मिटा भी नहीं सकते है। परंतु, समाज को उसका आईना दिखाने का प्रयास अवश्य किया जा सकता है। सुधा अरोडा कहती है - ''यह सच है कि हा समस्या का हल हम साहित्य में नहीं ढूँढ सकते, पर यह भी सच है कि, आज साहित्यकारों ने सामाजिक परिप्रेक्ष्य में महिलाओं की समस्याओं की ओर ध्यान देना शुरू किया है।''[15]

3.2 सन 1980 से 2000 इ. तक के स्त्री केंद्रित उपन्यास एवं उपन्यासकारः

उपन्यास साहित्य के क्षेत्र में स्त्री केंद्रित उपन्यासों की एक उर्वरा जमीन हिन्दी के रचनात्मक साहित्य में देखी जा सकती है। कृष्णा सोबती की 'मित्रो मरजानी', उषा प्रियवंदा की 'रूकोगी नहीं राधिका' तथा मन्नु भंडारी की 'आपका बंटि' जैसी तीन बहुचर्चित और अधिकांश भारतिय भाषाओं में अनुवादित औपन्यासिक रचनाए अधिक प्रभावशाली ठहरती है।

आगे 1980 के बाद हिन्दी में स्त्री को केंद्र में रखकर लिखनेवाले उपन्यासकारों में एक बाढ सी आ गयी है, ऐसा महसूस होता है। ममता कालिया का 'बेघर' तथा 'एक पत्नी के नोटस', एक मध्यमवर्गीय स्त्री का अपने पति द्वारा एक अति सामान्य औरत की तरह किया जानेवाला बर्ताव और किए गए व्यंगों का शिकार होने वाली स्त्री का चित्रण 'एक पत्नी की नोटस्' के माध्यम से किया गया है। यह उपन्यास तथाकथित पढे-लिखे लोगों की मानसिकता को उनके परम्परावादी चेहरे को खोलकर रख देता है। मृदुला गर्ग के 'अनित्य' उपन्यास में दो महत्त्वपूर्ण स्त्री पात्रों में से एक काजल जो एक

फेमिनिस्ट प्राध्यापक के रूप में उभरती है और अलक्षित इतिहास को दुबारा लिखना चाहती है; जो भगतसिंह के सिद्धांतों पर विश्वास रखती है। दूसरा स्त्री पात्र 'संगीता' है जो एक वेश्या की सन्तान है। इस अवस्था में भी वह अपने सिद्धांतों को नहीं खोती बल्कि अपनी अस्मिता के साथ खडी होती है।

मृदुला गर्ग का 'चितकोबरा' और 'मैं और मैं' इसी काल की प्रकाशित औपन्यासिक कृतियाँ है। 'मैं और मैं' उपन्यास में एक स्त्री तथा लेखिका इन दोनों पहलुओं का अन्तर्द्वंद्व बडी बारिकी के साथ चित्रित किया गया है।

मृदुला गर्ग का 'कठगुलाब' उपन्यास भी इसी दृष्टि से महत्त्वपूर्ण साबित हेाता है। जिसमें स्त्रियों के इतने विभिन्न रंग रूप तथा शेड्स मिलते हैं कि, स्त्री विमर्श की कई अवधारणाओं की पोथी सी लगने लगती है।

चित्रा मुद्गल के 'एक जमीन अपनी' और 'आवाँ' यह दोनों उपन्यास स्त्री-चेतना के विषय में विशेष महत्त्वपूर्ण ठहरते हैं। मृनाल पाण्डे के 'पटरंग पुराण' में पुरे एक शहर को इस नजरिये से देखा जा रहा होता है। जो अपने खिडकी, झरोखे खोलकर, घुँघट उलटकर खडी पैनी निगाह से कस्बे में होने वाले हर क्रिया-कलाप का जायजा ले रहा होता है। इसी शृंखला में मेहरून्निसा परवेझ के 'कोरजा' उपन्यास भी महत्त्वपूर्ण ठहरता है। इस उपन्यास में आदिवासी परिप्रेक्ष्य में एक स्त्री त्रासदी को व्यक्त किया गया है।

मंजुल भगत ने इसी युग में 'गंजी' उपन्यास लिखकर समाज के निम्नवर्गीय स्त्री की रोजी-रोटी के चक्कर में संघर्षरत स्त्री की हिंमत तथा उसका स्वाभिमान इस उपन्यास में रेखांकित किया गया है।

मंजुल भगत लिखित 'खतुल' यह उपन्यास एक ऐसा उपन्यास ठहरता है, जो स्त्री को प्रधानता देता है। अब तक स्त्री को दोयम भूमिकाओं में ही देखा एवं चित्रित किया जाता रहा था। मुल्क से ज्यादातर मर्दों को ही बेदखल किया जाता रहा है किन्तु इस उपन्यास में मर्द नहीं बल्कि एक औरत को मुहाजीर के तौर पर चित्रित किया गया है। यह उस लडकी की कहानी है जो अफगानिस्तान से भागकर आयी है। वह शरणार्थी है और कमसीन भी है। जंग के भयान के परिणामों को भुगतने के बाद भी वह अपना मुल्क छोडकर भागना नहीं चाहती बल्कि आजाद कराने में अपनी कुर्बानी तक देना चाहती है।

'यह खबर नहीं' यह कमल कुमार का चर्चित उपन्यास है, जिसमें सत्ता एवं प्रभुताशाली वर्ग के बीच किस तरह एक प्रतिभाशाली लडकी की अस्मिता को कुचला जाता है, इसका रोमांचकारी तथा यथार्थ चित्रण किया गया है। स्त्री केंद्रित उपन्यास लिखने की परंपरा में 1980 के आसपास के लेखकों में नासिरा शर्मा का नामोल्लेख करना भी अनिवार्य हो जाता है। उनके 'शाल्मली' उपन्यास में आजादी के बाद की उस स्त्री का चित्रण किया गया है जो अपने घर तथा बाहर अपनें अधिकारों की माँग करते हुए दिखाई देती है। वह अपने पति से संवाद चाहती है। बराबरी और सम्मान चाहती है। आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में अत्यंत सूझ-बूझ के साथ इस स्त्री पात्र का सृजन किया गया है।

'ठिकरे की मंगनी' यह नासिरा शर्मा का एक और स्त्री केंद्रित उपन्यास है, जिसमें एक ऐसी स्त्री के स्वाभिमान को चित्रित किया गया है, जिसकी बिना पैसो के लेन-देन से विवाह तय होता है। वह लडका बडा हो जाने पर इस रिश्ते को मुकर जाता है और शादी करने से भी इनकार कर देता है। इन हालातों में भी वह स्त्री अपना घर स्वयं बनाती है और गाँव में अपनी स्वतंत्र पहचान भी प्रस्तावित करती है। जब वह

युवक वापस उसे अपनाने के लिए आता है, तब वह उसे नकार देती है। 'कुइया जान' इस उपन्यास में नासिरा शर्मा ने स्त्री का निसर्ग के प्रति का प्रेम व्यक्त किया है। इस उपन्यास के स्त्री पात्र पर्यावरण के पक्ष में विचार-विमर्श करती हुयी भी दिखाई देती है।

चन्द्रकांता का 'अपने-अपेन कोणार्क' और 'कथा सतीसर', गीतांजली श्री का 'माई' महत्त्वपूर्ण स्त्री केंद्रित उपन्यास है। एक कस्बानुमा गाँव की एक स्त्री अपने बच्चों एवं परिवार के प्रति कैसे स्वयं को समर्पित करती है, इसका चित्रण इस उपन्यास में हुआ है। परिवार के भरण-पोषण में वह तील-तील जलती चली जाती है। आखिरकार वह मर जाती है। उसका मर जाना भी बच्चों में विद्रोह की चिंगारी भर देता है और रीढ की हड्डी को सीधा रखने की सीख दे जाता है। मैत्रेयी पुष्पा का 'चाक', मधु कांकरिया का 'सलाम आखिरी' तथा 'सेज पर संस्कृत' उपन्यास महत्त्वपूर्ण हैं। 'सेज पर संस्कृत' उपन्यास में जैन साध्वियों का धर्म के नाम पर होनेवाले शोषण को एक युवा साध्वी के माध्यम से व्यक्त किया गया है। सन 1980 से 2000 तक के अन्य स्त्री केंद्रित उपन्यास एवं उपन्यासकारों का परिचय इस प्रकार दिया जा सकता हैं। - अलका सरावग्गी (शेष कादंबरी), अनामिका (दस द्वारे का पिंजरा), प्रभा खेतान (पोली आँधी) इत्यादि का जिक्र किया जा सकता हैं।

3.2.1 छिन्नमस्ता - प्रभा खेतानः

जब हम 1990 के बाद स्त्री केंद्रित उपन्यासों की बात करते हैं, तब सर्वप्रथम प्रभा खेतान के छिन्नमस्ता उपन्यास का जिक्र अनायास ही आ जाता है। प्रभा खेतान लेखिका होने के साथ-साथ स्त्रीवादी चिंतक भी हैं। इस उपन्यास में लेखिक ने अपने जीवन और रचनात्मक क्षेत्र मारवाडी समाज के पारिवारिक जीवन के आन्तरिक पक्षों को चित्रित करने में सफलता हासिल की है। उपन्यास में कितने ही स्त्री पात्र हैं जिसमें

'प्रिया' मुख्य पात्र है। प्रिया के जुझारूपन और आत्मसंघर्ष को उपन्यास में इस तरह से उठाया है कि यह स्त्री-चेतना का निर्मम पाठ बन जाता है।

प्रिया का बचपन अपने परिवेश, समाज और परिवार द्वारा दिए गए त्रासदीपूर्ण अनभवों का रहा है। वह अपने ही माँ-बहनों के ताने और उपहास झेलती है। तथाकथित परंपरागत बडे परिवार में लडकी होना किसी निर्मम नियति से कम नहीं होता है। कार्तिक नवमी को जन्मी और पिता के लिए लक्ष्मी का रूप लेकर आयी इस कन्या का शरीर धष्ट-पुष्ट होता है। जिससे वह परिवार वालों की घृणा-तिरस्कारों की पात्र हो जाती है। दस वर्षिय प्रिया अब चौदह-पंद्रह वर्ष की लगने लगती है।

प्रिया ने अपने घर में अपनी दादी, माँ और बहनों की उसके प्रति की स्थिति का, व्यवहार का बारिकी से अवलोकन किया होता है, जिससे वह भीतर से दृढ और इरादों से ज्यादा स्पष्टवादी होती है। एक साथ स्त्रियों की तीन पीढियाँ अंधविश्वास और अशिक्षा के अंधेरे में भटकते परिवार की और बन्द समाज की जकडबंदी की दास्ताँ स्वयं बयान करती चलती है। प्रिया इस पिछडेपन के परिवार में यह भी देखती है कि, किस तरह बारह वर्ष की अवस्था में ही लडकी को ब्याह दिया जाता है और फिर दस-दस माह में बच्चोवाली माँ भी हो जाती है। बहन सुमित्रा के साथ भी वही होता है। अभी उसकी उम्र अठारह वर्ष की है और वह चार बच्चों की माँ है।

प्रभा खेतान ने अपने विवेक के द्वारा प्रिया के व्यक्तित्त्व को गढा है। एक भयावह सन्नाटे में पली-बढी प्रिया अभ्यस्त हो जाती है। बडे घर की बहू होकर भी यह त्रासदी से मुक्त नहीं हो पाती। उसका जटिल व्यक्तित्त्व आस-पास की क्रूर तथा अमानवीय स्थितियों के बीच निर्मित होने से आग में विदग्ध होने से ही वह अडतालिस वर्ष की अवस्था में भी एक मुकम्मल एवं साबुत स्त्री के रूप में अपने को बचा सकी है।

उपन्यास के कुछ प्रसंग नैतिकता की पोल खोलनेवाले और विवादास्पद भी बन पडे हैं। दस वर्ष की प्रिया अपने ही बडे भाई के यौन दुराचार का शिकार हो जाती है। स्त्री जीवन की इस भयावह यातना के समक्ष पाठक भी सिहर उठता है।

करुणा शंकर उपाध्याय इस उपन्यास की नायिका प्रिया के संघर्ष को लेकर कहते हैं- ''तथाकथित, दकियानूसी, अपारदर्शी तथा बन्द परिवारों में आमनवीय कृत्यों की गुंजाइश बहुत बढ जाती है। समाज के अमानवीकरण को अनावृत्त करने वाले इस प्रसंग द्वारा लेखिका ने स्त्री-विमर्श का जटिल, बहुस्तरीय और निर्मम पाठ तैयार किया है।''[16]

प्रिया के लिए पुरुष का आदर्श स्वयं उसके पिता होते हैं जो उसे शाखा-उपशाखाओं से भरा-फैला वटवृक्ष का सा लगता है। उनका दर्प, पौरुष, आदर्श आदि सब प्रिया को सुहाते हैं। अपने जीवन में वह उनके गौरव के संधान का प्रयास करती है किन्तु, दुर्भाग्यवश उसके पिता की संपत्ति के लोभियों द्वारा हत्या कर दी जाती है। परिणामत: प्रिया को और भी असुरक्षितता महसूस होने लगती है, उसे पिता की कमी खलने लगती है।

कॉलेज के जीवन में प्रिया असीम नामक एक बंगाली युवक की ओर आकर्षित होती है। जिसने उसे उसकी असुरक्षा और उपेक्षा से उबारना चाहा था। किन्तु मारवाडी-बंगाली संबंध को यह परिवार कदापि मान्यता नहीं दे सकता था। फलत: उसके परिवार वाले नरेंद्र के साथ जल्दबाजी में प्रिया को ब्याह दिया जाता है और छुटकारा पाने वाली चैन की सांस लेते हैं। यही प्रिया के जीवन को भी एक नया आयाम मिल जाता है।

आगे वह अपने व्यावसायिक कार्य में व्यस्त हो जाती है। सफलता से व्यवसाय को बढाकर अपनी पहचान को स्थापित करती है। उसका पेशेवर रवैया तथाकथित पुरुष वर्चस्व को चुनौती देता हुआ दिखाई देता है।

3.2.2 कठगुलाब - मृदुला गर्गः

वर्तमान जीवन में स्त्री-चेतना को आधार बनाकर लिखा गया मृदुला गर्ग का कठगुलाब उपन्यास अत्यंत महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता है। वैसे तो इसमें अनेकों स्त्री पात्र है जिनके द्वारा स्त्री-जीवन के बहुविध रूपों तथा स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की त्रासदी की पर्तों को भी खोलकर रख दिया गया है। यह एक ऐसा उपन्यास है जिसमें कितने ही लघुवृत्तांतों को एक कडी में जोडकर एक महावृत्तांत बनाने का चमत्कार लेखिका ने कर दिखाया है। नमिता, स्मिता, मारियम, असीमा तथा विपीन मजूमदार जैसे अर्धनारीश्वर की संकल्पना द्वारा लेखिका वैश्विक स्तर पर नारी जीवन के अनेकों जाने-अन-जाने पहलुओं का परिचय करा देती है। कठ गुलाब के विस्तृत फलक पर अपूर्ण तथा अतृप्त मातृत्त्व से उपजे अवसाद और उस अवसाद को धो डालने के सजग प्रयास आदि के द्वारा स्त्री चेतना को अनेक जटिलताओं के साथ प्रस्तुत किया है।

‘‘लेखिका ने अपने सृजनात्मक दृष्टिकोण द्वारा स्त्री तथा प्रकृति को परस्पर अनुस्यूत कर दिया है, जिससे कठगुलाब अतिशय व्यंजक प्रतीक बन गया है। मृदुला गर्ग की स्त्री-दृष्टि प्रशस्त और अभिरूची परिष्कृत है। वह अपने प्रतिभा कौशल के बल पर औरत के भीतर दूर तक सिरजे, जटिल, उलझे और कोमल संसार की गहरी पडताल करते हुए उग्र नारीवाद की सीमाओं का रेखांकन भी करती है।’’[17]

उत्तर आधुनिकता के इस समसामायिक युग में लेखिका स्त्री में एक प्रकृतिपरक माँ की उश्रृंखलता को स्थापित करना चाहती है। जिससे कि वह झूम उठने की तलक से सरोबोर हो उठे।

विज्ञान युग में मनुष्य द्वारा शोषित प्रकृति के रूपक द्वारा किसी न किसी पुरुष से अपमानित, लांछित तथा शोषित नारी के तमाम रूपों को संवेदना तथा सरोकार का महीन तंतु प्रदान किया गया है। लेखिका को यह विश्वास है कि एक दिन वह आएगा

जब मानवीय गुणों को स्त्रियोचित-पुरुषोचित कहकर विलग करने के बजाय अर्धनारीश्वर के प्रतिरूप में उसका समुच्चय व्यक्तित्त्व प्रकट होगा। इसी माध्यम से स्त्री-पुरुष सम्बन्धों को वैश्विक स्तर पर न्यायपूर्ण छवी के रूप में प्रस्थापित कर दिया जा सकता है, ऐसा प्रतिपादन लेखिका करती हुई दिखाई देती है।

3.2.3 आँवा - चित्रा मुद्गलः

सन 1999 में प्रकशित चित्रा मद्गल का 544 पृष्ठों के विराट फलक पर चित्रित 'आँवा' उपन्यास अपने गहन सामाजिक सरोकारों तथा विस्तृत आकार के कारण विशेष रूप से चर्चित रहा है। यह उपन्यास नारी शोषण के विविध रूपों के यौन उत्पीडन, उसके दाहक आक्रोश, स्त्री की परिवर्तनशील विकासमान, मानसिकता तथा संघर्षशील स्त्रियों के तमाम पहलुओं को विस्तार एवं प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करता है। स्त्री-चेतना के मार्ग का यह लेखिका का प्रयास स्त्री-विमर्श तथा उससे जुडे अन्य सामाजिक सरोकारों से भी जुडा हुआ है। लेखिका ने इतने बडे फलक पर समकालीन स्त्री जीवन को सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में कौशल के साथ चित्रित किया है। समाज में व्याप्त तमाम विसंगतियों को जिस निस्संगता के साथ प्रस्तुत किया है वह आश्चर्यजनक है। चित्रा मुद्गल ने जिस संवेदनात्मक क्षमता और प्रतिभा कौशल के बल पर इस बृहदाकार उपन्यास के अधिकाधिक एवं प्रासंगिक कथाओं का गुंफन किया है, वह लेखिका को अव्वल दर्जे का उपन्यासकार बना देता है।

प्रस्तुत उपन्यास की कथा इसके प्रमुख स्त्री पात्र नमिता के वैयक्तिक संसार और उसके कार्य क्षेत्र के बीच सानुपातिक संतुलन साधे हुए हैं, जिससे अरस्तू द्वारा प्रतिपादित संगठन (Unity) का सम्यक निर्वाह हो सका है। नमिता के वैयक्तिक जीवन की कथा उसके आत्मसंघर्ष, परवान पर प्रेम, अन्नासाहेब के साथ के कटू अनुभव आदि के आसपास चित्रित किया गया है।

दुसरी ओर इसका कार्यक्षेत्र भी होता है, जहाँ वह मजदूर आंदोलन, ट्रेड युनियन, आघाडी कार्यालय, आभूषण व्यापार जगत से गुजरकर अपनी बाह्य पहचान निर्मित करने की भी कोशिश करती है। नमिता अपनी बाहरी दुनिया से बीच-बीच में आन्तरिक दुनिया में भी प्रत्यावर्तन करती दिखती है। एक ओर वह घरेलू मोर्चे पर संघर्षरत हैं जहाँ उसे अपने लकवाग्रस्त पिता के लाचार शरीर की सेवा-सुश्रुषा करनी होती है। अपने बिकट कर्कशा माँ से लडते हुए एक छोटी सी खोली में रहती है। दूसरी ओर मुंबई महानगर की तेज किन्तु संवेदनशून्य भीड-भाडवाली जिन्दगी है। यहाँ उसे लोकल ट्रेन की भीड-भाड और अचानक कोसती कहानियाँ, बदन पर सरसराती उँगलिया, इच्छा लोलूप कनखियाँ तथा सिसकारी भरती छुअन आदि को भी झेलना होता है। ट्रेड युनियन के नेता अण्णासाहेब की अश्लील हरकतों का भी उसे शिकार होना पडता है, जिसके चलते उसका जीवन बिखराव तथा कसाव का शिकार होता है। लेखिका ने अण्णासाहेब की नारी सम्बन्धी अवधारणा की खोज-खबर लेते हुए उसे अवसर पाकर प्रस्तुत भी किया है। दार्शनिक स्वर में अण्णासाहेब कहते हैं कि, ''देह मुझे नहीं भोगती। भूले-भटके मैं स्वयं अपनी दैहिक और मानसिक थकान उतारने के लिए उसका उपयोग कर लेता हूँ और नयी स्फूर्ति, नयी ऊर्जा के साथ श्रमिक संस्था में संलग्न हो जाता हूँ।''[18] वे अपने तथा-कथित दाहिने हाथ और लकवाग्रस्त होने तक कामगार आघाडी के महासचिव देविशंकर पाण्डेय की बेटी नमिता को पुत्री के समान मानते हुए भी उसके साथ हस्तमैथुन करवाते हैं और उसके सहयोग न देने पर बलात्कार की धमकी भी देते हैं। वो कहते है - ''पिता समान हूँ मैं तुम्हारे, पिता नहीं हूँ। .....नियंत्रण में नहीं रहूँगा तो कह नहीं सकता, क्या होउँगा। ...तुम्हारे देह के साथ कोई खिलवाड नहीं करुँगा। अपनी देह के साथ खेलने के लिए मैं स्वतंत्र हूँ। हाथ मत छुडाओ, जैसा कहूँ करती रहों।''[19] अण्णासाहेब का यह व्यभिचारयुक्त व्यवहार उनके जीवन की तमाम उपलब्धियों पर हावी हो जाता है।

प्रस्तुत उपन्यास में लेखिका ने जिस कौशल के साथ नमिता, स्मिता, सुनंदा, किशोरीबाई, गौतमी तथा मॅडम वासवानी जैसी स्त्री चरित्रों की सृष्टि करके स्त्री विमर्श की बहुस्तरियता एवं जटिलता को उद्‌घटित किया है। वह लेखिका के रचनात्मक प्रतिभा को पर्याप्त उँचाई प्रदान करनेवाला सिद्ध होता है।

लेखिका स्त्री-चेतना को विराट अवधारणा के रूप में स्थापित करना चाहती है। वैचारिक धरातल पर बदलाव का रंगमंच तैयार करने की उनकी ललक दिखाई देती है। वह चाहती है कि स्त्री की देहधर्मी पहचान के बदले उसकी मानसिक एवं बौद्धिक पहचान बने। लेकीन इस देश का पुरुष वर्ग इस बात को स्वीकारनेवाला है कि स्त्री वस्तु अथवा देह भर का नाम है। इसी वजह से स्त्री मन तथा स्त्री सोच को अनदेखा किया जाता रहा है।

नमिता अण्णासोहब की अश्लील हरकतों तथा कामुक मनोभावों से युक्त कृतियों से उबकर नोकरी से इस्तिफा दे देती है और मॅडम वासवानी द्वारा अभिजात्य एवं शालीनता की आड में दिखाई गई बिसदत को भाँप भी नहीं पाती है। महलनुमा ऑफिस में पत्राचार विभाग में अच्छे वेतन पर वह बाबा ज्वेलर्स में नोकरी पाती है। मॅडम वासवानी द्वारा मिलें महँगे उपहारों में तथा पाँचसितारा परिवेश के संम्मोहन में खो जाती है। मॅडम वासवानी के मागर्दर्शन में वह आभूषणों की मॉडल भी बन जाती है। इसकी परिणती भी भयंकर होती है। उसे स्वर्ण व्यापारी संजय कनौजिया के लिए अपनी कोख किराए पर रखनी पडती है। मॅडम वासवानी को समाजसेविका की गद्दी से उतारकर चकला चलानेवाली तथा पूँजीपतियों के हाथ की कठपुतली बन जाती है। नमिता का अन्तर्द्वंद्व उसे पुरुष की रखैल बनकर अपने व्यक्तित्त्व की हत्या से भी रोकता है। गर्भपात न करा पाने की विवशता भी होती है। यहाँ लेखिका ऐसा संयोग रचती है कि पाठक लेखिका की कला पर मोहित हो उठते हैं। नमिता का फोन पर 'पवार' ने बताया कि

अण्णासाहेब की हत्या कर दी गई है, जिसे सुनकर वह इतनी दहल जाती है कि उसका गर्भपात ही हो जाता है। इसी के साथ उसका अस्तित्त्व रक्षण भी होता है। लेखिका नमिता के आदर्शों और विवेक को हर्षा के रूप में भी पुरस्कृत करने की कोशिश करती है। हर्षा समुचे देह विमर्श को विराम देते हुए कहती है कि, ''किसी पुरुष के मानसिक उत्पीडन को लिंग के दायरे से मुक्त होकर भी तो महसूस किया जा सकता है...देह में दिमाग है, उसमें हर समय देह मँडराती रहे...मुझे नहीं लगता यह सच है, कुछ के विषय में हो सकता है।''[20]

नमिता तथा हर्षा के ठीक विपरित स्मिता तथा गौतमी जैसे पात्रों के जरिए लेखिका ने देह के जरिए सफलता मिलानेवाली स्त्रियों की खोंखली मानसिकता को स्पष्ट किया है। स्मिता इतने खुले विचारोंवाली है कि वह मन की तरंग और उमंग के अनुरूप पुरुष मित्र बदलती जाती है। शिकार होने की संभावना से आपने-आप को बचाने की कोशिश में वह स्वयं ही 'शिकारी' हो जाती है। वह पुरुष मित्रों के साथ होटलों की रूम में संभोग तक करने का साहस दिखाती है। मर्दों के विषय में उसके खयालात व्यक्त करनेवाला उसका यह व्यक्तव्य देखिए - 'मर्द को आधी औरत बनाकर उस पर सवारी गांढना।' वह बडे साहस के साथ पहले दोस्त शरत् द्वारा होटल के एक कक्ष में कंडोम लाने में हिचकिचाहट करने पर व्यथित-क्रोधित हो उठती है। इसी आवेग में वह कहती है - 'गधे की औलाद...मैं तेरे बच्चे की कुंवारी माँ नहीं बनना चाहती। जो लडका कंडोम का इस्तेमाल करना नहीं जानता वह मेरा प्रेमी होने के काबिल नहीं। बैठ घर में।' इसके बाद भी शरत उसे फोन करके गिडगिडाता है। इस पर वह नमिता से कहती है - ''वैसे तो हरामखोर मर्द रोते नहीं...साआल्ले रूलाने पर ही रोते हैं...बस रूलानेवाला चाहिए। रोता हुआ मर्द कितना सुरीला लगता है।''[21]

स्मिता का चरित्र स्त्री-विमर्श का साहसिक आख्यान ही ठहरता है। वह बदलते संदर्भों के अनुकूल नए समाजशास्त्रीय पाठ निर्मित करने की अपेक्षा रखती है। गौतमी का चरित्र स्त्री स्वातंत्र्य का प्रतिष्ठापक ठहरता है, जो पति को अधिकारिक बलात्कारी ही मानती है। पति को मनमानी करने से भी वह रोकती है। इस पूरे उपन्यास की संरचना में शरीर और त्वचा की भाँति स्त्री-विमर्श सहेजता है। लेखिका ने अपेक्षित तटस्थता को भी बरता है, जिससे वह कथित स्त्री पात्रों के साथ स्त्री-विमर्श के तमाम आयामों को स्पष्ट कर सकी है।

इसी क्रम में 1990 के बाद लिखे गए स्त्री केन्द्रित उपन्यासों में कलिकथा वाया बाइपास (अलका सरावगी), एक पत्नी के नोट्स (ममता कालिया), इदन्नमम, बेतवा बहती रही, झुला नट, चाक (मैत्रेयी पुष्पा), हमारा शहर उस बरस, तिरोहित, तश्तरी में तुफान (गीतांजली श्री), अब न बनेगी देहरी, भागो नहीं धनंजय (पद्मा सचदेव), अपनी सलीबे (नमिता सिंह), कथा-सतीसर (चंद्रकांता), मैं बोरिशाइल्ला (डॉ. महुआ मांझी) आदि उपन्यासों का प्रमुखता से नामनर्देश किया जाता है।

3.3 इक्कीसवीं सदी के प्रथम दशक के प्रमुख स्त्री केंद्रित उपन्यासः

इक्कीसवीं सदी के प्रथम दशक में जो स्त्री केंद्रित उपन्यास प्रकाशित हुए हैं, वे गुण तथा परिणाम दोनों ही दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण ठहरते हैं। स्त्री-विमर्श के दायरे में इसे परमोच्च शिखर के रूप में भी देखा जा सकता है। इन उपन्यासों में केवल स्त्री-विमर्श ही अपने व्यापक रूप में प्रकट नहीं होता है, बल्कि समकालीन जीवन की राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक स्थितियों में होने वाली हलचल, पारिवारिक टूटन या बिखराव, प्रापंचिक सामंजस्य-वैमनस्य, बदलतें रिश्तें, वैश्विकरण के दबाव में बेचैन क्षेत्रीय अस्मिता, उपभोक्तावाद का बढता दायरा तथा स्त्री-पुरुष संबंधों का रचनात्मक विमर्श भी प्रस्तत होता रहा है।

समकालीन उपन्यासकारों ने गहरी रचनात्मकता को प्रदर्शित कर आवेग के साथ उसकी प्रस्तुती भी की है। साथ ही स्त्री विषयक वर्तमान समय के अनेकों सवालों को उठाया हैं, जिनसे भारतीय समाज आज भी अनभिज्ञ रहा है। भगवानदास मोरवाल जैसे नयी उम्मींदों के उपन्यासकार स्त्रियों की विभिन्न समस्याओं देशवासी पाठकों के सामने रखते हुए उस दिशा में सुधार होने की कामना भी रखते हैं। इस समसामायिक युग के उपन्यास लेखक केवल लेखकीय भूमिका का निर्वहन नहीं करते बल्कि, एक चिंतक के रूप में भी उभरकर पाठकों के सम्मुख आते हैं।

3.3.1 अल्मा कबुतरी - मैत्रेयी पुष्पा

सन 2000 में प्रकशित मैत्रेयी पुष्पा का 'अल्मा कबुतरी' यह उपन्यास स्त्री को केन्द्र में रखकर लिखा गया स्त्री का आख्यान माना जाता है। यह एक नायिका प्रधान उपन्यास है। भले ही इसमें राणा, रामसिंह, सूरजभान, मंसाराम जैसे कितने ही पुरुष पात्रों की भरमार है किन्तु उपन्यास के केंद्र में केवल दो ही पात्र ठहरते हैं, वे दोनों स्त्री पात्र हैं। एक पात्र कदमबाई है तथा दूसरा पात्र अल्मा है। इस अर्थ में यह उपन्यास नायिका प्रधान ठहरता है। अल्मा को दोयम पात्र मान लेने पर कदमबाई इस उपन्यास की नायिका ठहरती है किन्तु उपन्यास का अन्त अल्मा के साथ होने के कारण वह भी उपन्यास की नायिका होने का दावा करती है।

अल्मा तथा कदमबाई रिश्ते से सांस-बहू होती हैं। संघर्ष दोनों के जीवन का अभिन्न अंग बना है। कदमबाई अपने चोर पति जंगलियाँ से निजात पाने के बाद गाँव के जमीनदार मंसाराम की रखैल बन कर रह जाती है। किन्तु अल्मा का संघर्ष व्यापक धरातल तक पहुँचता है और एक साधारण लडकी से एक मंत्री की पत्नी बनने तक का सफर वह तय करने में सफल हो जाती है। संघर्ष तो दोनों के जीवन में है किन्तु अल्मा इस संघर्षरत जीवन में बहुत आगे निकल जाती है। अत: वह अपने संघर्षरत होने की

सफलता भी प्राप्त करती है। वही कदमबाई धनी सेठ, मंसाराम की रखेल मात्र बनकर रह जाती है। उपन्यास के ये दोनों स्त्री पात्र अपने-अपने दायरें में रहकर संघर्ष करते हुए दिखाई देते हैं।

मंसाराम कदमबाई के सौंदर्य पर मुग्ध होते हैं और अंधेरी रात में वह उसका पति होने का दिखावा करके खेत में ही कदमबाई को आगोश में लेता है, उसे प्यार करने लगता है, भावावेग में कदमबाई भी उसे प्रतिसाद देती है। किन्तु, पति जंगलियॉ जिस तरह से यह प्रेम दर्शाता रहा है, उस तरह मंसाराम नहीं दर्शाता, फलत: कदमबाई जान जाती है कि उसको छला गया है। किन्तु तब तक उसकी भावाग्नी बढती है और वह मंसाराम को एक पत्नी की तरह प्रतिसाद देने लगती है।

उपन्यास का कथानक 'मंडोरा खुर्द' नामक गाँव से आरंभ होता है, जहाँ कबुतरा जनजाति के लोग डेरा जमाकर बैठ जाते हैं। इसी गाँव के जमीनदार मंसाराम की नजर इस कस्बे की कदमबाई जो नवब्याहता थी उस पर पडती है। और उसे पाने की उनकी ललक बढ जाती है। उसके पति को भी वह रास्ते से हटाते हैं। बदले में कबुतरा लोगों को बसने के लिए वो अपनी जमीन देते हैं। कदमबाई इसे एहसान समझती है और इस एहसान को चुकाने हेतु समर्पित भाव से मंसाराम की रखैल होकर जीवन यापन करती है।

उपन्यास का कथानक मध्यप्रदेश के झाँसी, बुंदेलखंड के आसपास की घटनाओं को लेकर चलता है। कबुतरा जनजाति के लोग अपने को रानी लक्ष्मीबाई के वंशज बतातें हैं। कदमबाई भी यही मानती है। 1857 के स्वातंत्र्य समर में जो कुछ लोग थे वो भी बिखर गए। उन्हीं में से ये कबुतरा लोग भी थे, जो कई टुकडों में बिखर गए। ऐसा ही एक दल मंडोरा खुर्द में आकर बस गया है। इनको सहारा देनेवालों में मंसाराम भी उनके लिए भगवान से कम नहीं होते। कदमबाई अपने समुचे काबिले की खुशहाली

चाहती है। वह उदारमतवादी स्त्री के रूप में सामने आती है और अपने कबिले की भलाई के लिए स्वयं की आहुति मंसाराम की रखैल बनकर दे देती है। यही समर्पण भाव कदमबाई ने अपने पति जंगलियाँ के प्रति भी रखा था। किन्तु, जंगलियाँ अपने चोरी करनेवाले कार्य से बाज नहीं आया। एक दिन एक जबरी चोरी के मामले में पकडा गया। पुलिस थाने में बंद किया गया। वहाँ जाकर कदमबाई पुलिस के पैरों पर गिरकर उसे छुडने बिनती करती है, गिडगिडाती है। आखिर चिढकर जंगलियाँ से कहती है - 'हुंह! दिलेरी दिखा और हमसे सिपाहियों के बूंटों पर होठ रगडवा। यहि होती है बहादूरी?'[22]

इस कबिले में केवल एक युवक है जो थोडा बहुत पढा-लिखा है, उसका नाम है रामसिंह। यह रामसिंह अपनी कौम में सुधार लाना चाहता है, जो केवल शिक्षा से ही आ सकता है। अत: वह कबिलेवालों को शिक्षा के प्रति जागृत करने के भरोसे अपना पेट पालनेवाले कबुतरा स्त्री-पुरुष शिक्षा के प्रति असंतुष्ट है। यह स्त्रियाँ अपने बच्चों को शातिर चोर बनाने की दिशा में प्रयास करती है किन्तु एक समय ऐसा भी आता है जब पुलिस की जुती पर नाक रख देनी पडती है। कदमबाई की यह अवस्था भी उसके अशिक्षा के कारण हुयी थी। यदि उसका पति चोर न होता तो, पढा-लिखा होता तो शायद उस पर यह त्रासदी का समय ही नहीं आता। अपने कस्बे में तो जंगलियाँ शेर बनकर, छाती तानकर चलता है। बडी-बडी चोरियां करता है। कुछ पचा भी जाता है और कभी पकडा भी जाता है। और उसे पुलिस की गिरफ्त से बाहर निकालते-निकालते कदमबाई जैसी स्त्रियों की निंदनीय दयनीय अवस्था हो जाती है। इसी दयनीय अवस्था से कदमबाई आक्रमक हो उठती है और पति की मर्दानगी पर ही वह प्रश्नचिन्ह लगा देती है। अनपढ होकर भी वह अन्याय के खिलाफ अपनी आवाज को बुलंद कर देती है। उसकी यह उक्ति स्त्री-चेतना की दिशा में उठते कदम की प्रचीती दिलाती है।

अल्मा रामसिंह की बेटी है, जो इस उपन्यास की नायिका है। अपने बाप की तरह उसे भी पढने में रूची है। रामसिंह की पढाईवृत्ति से प्रेरित होकर वह कम उम्र में ही कितनी ही किताबें पढ लेती है। कदमबाई को मंसाराम के साथ बिताए पलों के कारण गर्भ धारणा होती है और उससे जो बच्चा पैदा होता है उसका नामकरण 'राणा' किया जाता है। वह अल्मा से मिलती-जुलती उम्र का होता है। रामसिंह 'राणा' की चतुर बुद्धि को ताड लेता है और उसे पढाने हेतु अपने साथ ले जाता है। रामसिंह के यहाँ राणा अनायास ही अल्मा के स्नेह से बन्धा जाता है। अल्मा भी राणा को चाहती है और पतिरूप में उसे अपनाना भी चाहती है किन्तु हालातों के आगे सब कुछ तितर-बितर कर रह जाता है। वह अपने लिए इच्छित वर तो नहीं पा सकती किन्तु एक भयानक संघर्ष से गुजरती है।

गोरमछिया याने की अल्मा के गाँव में रहकर राणा में काफी परिवर्तन भी हो जाता है। उसके उच्चारण के साथ-साथ उसका खान-पान तथा रहन-सहन भी बदल जाता है। एक संस्कारित युवक की तरह वह बर्ताव करने लगता है। यह केवल अल्मा के स्नेह एवं रामसिंह की शिक्षा का प्रतिफल होता है। अल्मा के सम्पर्क में आने के बाद राणा की दुनिया मानो बदल सी जाती है। अल्मा कितनी सफाई से अंग्रेजी पढती है यह देखकर राणा को आश्चर्य होता है। रामसिंह अपनी लडकी को हर विद्या में अग्रेसर करता है। कथा-कथन के माध्यम से रामसिंह उसे इतिहास जैसा क्लिष्ट विषय भी रूचीपूर्ण पढाते हैं।

एक स्त्री ही दूसरी स्त्री की शत्रू होती है। इसे भी कई उपन्यासकारों ने अपने-अपन ढंग से प्रस्तुत किया है। मंसाराम का अच्छा खासा परिवार है आनंदी जैसी रूपवान बीवी है और जोधा उनका बडा लडका है, जिसे सुझ-बूझ है और अपने पिता के और कदमबाई के सम्बन्ध को लेकर वह क्रोधित भी होता है। घर में झगडे होने

लगते हैं और आखिरकार मंसाराम घर से ही निकल जाते हैं। एक भरे –पूरे परिवार को मंसाराम के आचरण के कारण कठिणाइयों का सामना करना पडता है।

अल्मा गोरमछिया गाँव में अपने पिता रामसिंह के साथ रहती है। चोर-डाकुओं तथा पुलिस की बातों में वह फसता चला जाता है। इन सभी का घर आना-जाना चलता रहता है, जिसे अल्मा सह नहीं पाती किन्तु वह विवश है।

राणा के यहाँ आ जाने से अल्मा खुश है। वह राणा पर स्नेह भी करने लगती है। इस डरावने खौंफनाक वातावरण में डर-डर के जिने वाली अल्मा जब राणा से दाम्पत्य सुख प्राप्त करती है, तो तृप्त होकर डर से मुक्त हो जाती है। अल्मा कहती है - ''अब मुझे किसी से भी डर नहीं लग रहा। ऐसा क्यों हुआ पता नहीं। इस घर में डाकू, चोर, हत्यारे आ जाए तब भी नहीं डरुंगी, देख लेना।''[23]

दाम्पत्य जीवन पाकर अल्मा भयमुक्त हो जाती है और तभी से उसके जीवन में अमूलाग्र परिवर्तन आने लगता है। रामसिंह की हेरगिरी वृत्ति को जान जाने बाद राणा वहाँ से भागकर अपने गाँव चला आता है। और अल्मा फिर से अकेली हो जाती है। परन्तु, कदमबाई को अल्मा की चिन्ता बनी रहती है। अल्मा सहज स्वाभाविक चित्रण किया गया है। राणा के प्रति वह समर्पित भाव रखती है, उसे भावी 'वर' के रूप में स्वीकारना चाहती है, किन्तु रामसिंह के मर जाने से अल्मा का जीवन ही बदल जाता है।

रामसिंह को अगली घटना के विषय में पता होता है, तभी वह अल्मा को अपने भाई दुर्जन के घर दातारनगर में छोड आता है। और बेटासिंह तथा पुलिस के षड्यंत्र का शिकार हो जाता है। पुलिस उसे मारकर डाकू बेटासिंग मारा गया इस तरह की खबर फैलाते हैं। बेटासिंह का चेहरा राणा पहचानता था, उसे देखकर यह भेद समझ जाता है और अल्मा की चिंता उसे सताती है।

दुर्जन दोगली प्रवृत्ति का आदमी है, जो भलेपन की आड में बुराइयाँ करता है। रामसिंह के मौत के विषय में वह भी जानता है और अल्मा को सूरजभान के हाथों बेच देता है। सूरजभान का बडा प्रस्त होता है, वह मंत्रियों तथा बडे-बडे अफसरों को लडकियाँ देकर खुश करता है और अपना प्रस्त बनाते रहता है। वह अल्मा को झाँसी में एक बंगले में कैद करके रखता है।

इस कैदखाने से भागने के लिए अल्मा धीरज का सहारा लेती है। और अन्ततः सामाजिक मंत्री श्रीरामशास्त्री के यहाँ पहूँच जाती है। अपने काबिलियत से वह उनकी पी.ए. बन जाती है और आगे मंत्री श्रीरामशास्त्री से उसका विवाह भी हो जाता है।

उपन्यास का अन्त श्रीरामशास्त्री की मौत से होता है, जहाँ पर भावी उम्मीदवार के रूप में अल्मा श्रीरामशास्त्री के नाम की चर्चा होती है।

स्त्री-विमर्श की दृष्टि से उपन्यास कई अर्थों से महत्त्वपूर्ण माना गया है। स्त्री अस्मिता की दृष्टि से उपन्यास में लेखिका ने कितने ही दृष्टियों से प्रकाश डाला है। स्त्री अस्मिता की पहचान उसकी आत्मनिर्भरता पर निर्भर होती है। उपन्यास की नायिका अल्मा आधुनिक काल की एक ऐसी लडकी के रूप उभरकर आती है, जो संघर्ष से पीछे नहीं हटती और अपनी गुणवत्ता से अपना अस्तित्त्व निर्माण करने में कामयाब हो जाती है।

3.3.2 सीता मौसी - रमणिका गुप्ताः

रमणिका गुप्ता का यह लघु उपन्यास 1995 में प्रकाशित हुआ था। आगे एक अन्य लघु-उपन्यास सीता के साथ 2010 में इसका सुधारित संस्करण प्रकाशित हुआ है।

अपनी अस्मिता बचाने हेतू स्त्रिया जोखिम पर जोखिम उठाकर उठाकर जूझ रही हैं। उनका यह संघर्ष कभी व्यक्तिगत स्तर पर होता है। कभी नियती के भरोसे वह प्राप्त हालातों को झेलती है। प्रस्तुत उपन्यास में मौसी इस पात्र के द्वारा लेखिका ने उसके भोलपन-मासुमियत, सीधेपण और साथही अज्ञानता को यथार्थ रूप से चित्रित किया है।

लेखिका ने इस रचना में स्वयं को भी रखा है। यथार्थ और कल्पना का एक खूबसूरत ताना-बाना ही अच्छी रचना को जन्म देता है। रमणिका गुप्ता सर्वप्रथम एक समर्पित सामाजिक कार्यकर्ता है, लेखिका के रूप में उनकी पहचान बाद की रही है। अपने सामाजिक सरोकारोंके चलते अपने कार्यक्षेत्र की विसंगतियों को उन्होंने समृद्ध समाज के समक्ष उपन्यास की नायिका मौसी के माध्यम से रखा है।

सदियों से स्त्री पुरुषों के अधिपत्य में जीती आयी है। समाज ने उसे प्रगति के प्रवाह से बाहर रखने की कोशिश की। पुरुष वर्चस्व को झेलती स्त्री के रूप में मौसी को भी प्राप्त परिस्थितियों का झेलना पडा। लेखिका चाहती है की, अब स्त्री अपने अनुभव के आधार पर अपने फैसलें खूद ले और सदियों से की परंपराओं को तोडकर उससे बाहर निकले।

रमणिका गुप्ता एक संवेदनशील रचनाकार है। स्त्रियों की समस्याओं को गंभीरता से समझते हुए उन समस्याओं को प्रस्तुत किया गया हैं। स्त्री समस्याओं को उस समृद्ध समाज के सम्मुख रखते हुए स्त्री विषयक समाज के दृष्टिकोन में वह परिर्वतन चाहती है। मौसी का दबंग व्यक्तित्त्व तथा ओजस्वी संघर्ष अपनी समूची अस्तित्त्व चेतना के साथ उभरकर सामने आता है।

मौसी का पात्र साकार करने में लेखिका को किसी तरह की कल्पना का सहारा नहीं लेना पडा क्योंकि इस उपन्यास का कथ्य पूरी तरह से तत्थों पर आधारित है। मौसी जैसे पात्र आज भी जीवित है, ऐसा लेखिका का मानना है। वह कहती है - ‘‘सीता और

मौसी दोनों ही पात्रों का संघर्ष कोई इकहरा संघर्ष नहीं है। संघर्ष की कई परते है, जो एक साथ खुली हुई मुद्रा में हैं।''[24]

मौसी का संघर्ष जंगलों से होते हुए खदानों के बीहड में धक्के खाकर फिर अपने गाँव लौट आने तक अविरत चला है। जहाँ वह लौटती है वहाँ भी सब कुछ उजड गया होता है। उसका गाँव जातिगत झगडों का आखाडा बना होता है। मौसी को संघर्ष की आदत हो गयी थी और वह अस्मिता की पहचान को भी जान चुकी थी।

अपनी स्वतंत्रता को बचाए रखने के लिए वह गाँव भी छोड देती है। अपने अस्तित्त्व को तलाशती वह शहर चली जाती है और आत्मनिर्भर होकर पुरुषी वर्चस्व से आझाद होना चाहती है। इस प्रवास में मौसी कितनेही पुरुषों के हाथों से फिसलती चली गई। अब वह पुरुष के अधिन होकर जीना नहीं चाहती। उसकी कल्पना का पुरुष एक साथी के रूप में होता है। साथी बनकर साथ देनेवाले पुरुष की वह कामना करती है और माधो के रूप में उसे वह मिलता भी है किन्तु, समाज उसके रिश्ते को इसलिए स्वीकार नहीं करता क्योंकि माधो जाति का दुसाध (भंगी) है।

बिंदू मौसी माधो के प्रति अपनी भावना व्यक्त करते हुए कहती है- '...उसे माधो चुनने का, उसे अपने मन माफिक अपना साथी चुनने का, जो सुख-दुःख में मदतगार बन सके- अधिकार नहीं है। सभी को उससे नफरत करने का हक जरूर प्राप्त है...उसे बराबर मानने का दस्तूर नहीं है।'

समाज में स्त्री की अवस्था जानवर से भी बदतर है, इस बात को बिन्दू मौसी ने भली भाँति समझ लिया था। ''उसे याद आया गाँव का वह कुत्ता जो पडोसिन की कुत्तियाँ को सरे आम घसीटता फिर रहा था। उसे याद आए वो साँड, वे भैसे जो दिन-दहाडे गायों-भैसों को दौडाते फिरते हैं। कहाँ फरक है मरद जान और इन जानवरों में।''[25] पुरुष की इस मानसिकता को अस्विकारनेवाली मौसी स्त्री-चेतना की दिशा में

क्रान्तिकारी कदम उठाती हुई दिखाई देती है। ''नहीं लगाएगी वह मरद की मर्दानगी से होड। वह अपनी पहचान खुद बनाएगी। मरदों का क्या विश्वास? सलीम डर गया- भाग गया, मौलवी जबरन गले गढ दिया गया- वह भी मर गया। भगवान बाबू की बात और थी उसने तो खैर सौदा किया था।''[26]

लेखिका ने मौसी की यथार्थ चित्रण किया है और स्त्री चेतना की दिशा में मौसी-जैसी स्त्रियों को अग्रेषित करने का प्रयास इस उपन्यास के माध्यम से किया है।

निष्कर्ष:

कहा जा सकता है कि इक्कीसवीं सदी के स्त्री केंद्रित प्रमुख उपन्यासों में स्त्री जीवन के अनेक पहलुओं को उजागर किया है। जिसके माध्यम से स्त्री के सशक्तिकरण को भी अधिक ध्यान दिया गया है। आरंभिक दौर में स्त्री को केवल अबला कहकर पुकारा गया है। लेकीन स्त्री-विमर्श के आँधी ने इस संकल्पना को परिवर्तित करके इसमें नारी के सबलीकरण उसके अस्तित्त्व को समाज के सामने प्रस्तुत करने का कार्य भी किया है।

यह सही है की, आरंभिक दौर में स्त्री के उपर होनेवाले अन्याय और अत्याचार के प्रति वह चुप्पी साधे हुए थी लेकिन आज इक्कीसवीं सदी में स्त्री उस पर सवाल उठाना सीख गई है, जो आज के आधुनिक उपन्यासों में देखा जा सकता है। यही कारण है कि उपन्यास एक महत्त्वपूर्ण विधा के रूप में पाठकों के सम्मुख उपस्थित हुई है।

संदर्भ ग्रंथ

1) सम्पा. वजापुरे – तापस पुष्पलता, 1980 के बाद का स्त्री निर्मित कथा साहित्य आयोजित राष्ट्रीय चर्चा सत्र- दि. 14, 15 एवं फेब्रु. 2008 अंक में प्रकाशित आलेख, मुंबई विद्यापीठ एवं शब्दालय प्रकाशन, प्रथम आवृत्ति 2010, पृ. 243
2) सम्पा. अलोक गुप्ता, अंग्रेजी ढंग का नॉवेल और उपन्यास में संकलित नामवर सिंह का आलेख प्रकाशन, अहमदाबाद, पृ. 06
3) सम्पा. अलोक गुप्ता, भारतीय उपन्यास की अवधारणा, रंगद्वार प्रकाशन, अहमदाबाद, गुजराती में संग्रहित नामवर सिंह का आलेख, पृ. 29
4) नामवर सिंह, अंग्रेजी ढंग का नॉवेल और हिन्दी उपन्यास, रंगद्वार प्रकाशन, अहमदाबाद, पृ. 29
5) सम्पा. डॉ. अनिल सिंह, शकुंतिका: सृजन और दृष्टि, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गांधी मार्ग, प्रयागराज, पहला संस्करण-2021, पृ. 235
6) सम्पा. डॉ. अनिल सिंह, शकुंतिका: सृजन और दृष्टि, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गांधी मार्ग, प्रयागराज, पहला संस्करण-2021, पृ. 35
7) बीना जैन, बदलते परिप्रेक्ष्य और हिन्दी उपन्यास, दरियागंज, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2006, पृ. 9
8) बीना जैन, बदलते परिप्रेक्ष्य और हिन्दी उपन्यास, संजय प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2006, पृ. 9
9) जगदम्बाप्रसाद दीक्षित, मुरदाघर, राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-1974, पृ.15
10) जगदम्बाप्रसाद दीक्षित, मुरदाघर, राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-1974, पृ.19

11) जगदम्बाप्रसाद दीक्षित, मुरदाघर, राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-1974, पृ.21

12) जगदम्बाप्रसाद दीक्षित, अकाल, नया प्रतीक, नॅशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली- में प्रकाशित उपन्यास, फरवरी-1977, पृ. 98

13) अरुण प्रकाश, उपन्यास के रंग, अंतिका प्रकाशन, गाजियाबाद, पहला संस्करण-2013, पृ. 5 प्रस्तावना से

14) डॉ. माधव सोनटक्के, हिन्दी साहित्य का इतिहास, विकास प्रकाशन, कानपूर, द्वितीय संस्करण-2000, पृ. 435

15) सम्पा. पुष्पलता राजापुरे (तापस), 1980 के बाद का स्त्री निर्मित कथनपरक साहित्य, मुंबई विद्यापीठ तथा सुमती लांडे प्रकाशन, मुंबई, प्रथम आवृत्ति-2010, पृ. 241

16) उपाध्याय करुणाशंकर, हिन्दी लेखिकाओं के उपन्यास, राष्ट्रीय चर्चा सत्र में प्रकाशित आलेख, फरवरी-2008, मुंबई विद्यापीठ द्वारा प्रकाशित, पृ. 262

17) उपाध्याय करुणाशंकर, हिन्दी लेखिकाओं के उपन्यास, राष्ट्रीय चर्चा सत्र में प्रकाशित आलेख, फरवरी-2008, मुंबई विद्यापीठ द्वारा प्रकाशित, पृ. 262

18) चित्रा मुद्‌ग, आवां, सामयिक प्रकाशन, नयी दिल्ली, सातवा संस्करण-2012, पृ.91

19) चित्रा मुद्‌ग, आवां, सामयिक प्रकाशन, नयी दिल्ली, सातवा संस्करण-2012, पृ. 306

20) चित्रा मुद्‌ग, आवां, सामयिक प्रकाशन, नयी दिल्ली, सातवा संस्करण-2012, पृ. 205

21) पुष्पा मैत्रेयी, अल्मा कबूतरी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम आवृत्ति-2000, पृ.15

22) पुष्पा मैत्रेयी, अल्मा कबूतरी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम आवृत्ति-2000, पृ.184

23) रमणिका गुप्ता, सीता मौसी, ज्योतिलोक प्रकाशन, आजादपूर, दिल्ली, संस्करण-2010, पृ. प्रस्तावना से

24) रमणिका गुप्ता, सीता मौसी, ज्योतिलोक प्रकाशन, आजादपूर, दिल्ली, संस्करण-2010, पृ.172

25) रमणिका गुप्ता, सीता मौसी, ज्योतिलोक प्रकाशन, आजादपूर, दिल्ली, संस्करण-2010, पृ.173

चतुर्थ अध्याय
शकुंतिका उपन्यास का तात्त्विक विवेचन

भूमिका

4.1 उपन्यास के तत्व

4.1.1 कथावस्तु

4-1-2 चरित्र-चित्रण और पात्र

4.1.3 कथोपकथन

4.1.4 देशकाल वातावरण

4.1.5 भाषाशैली

4.4.6 उद्देश

4.2 शकुंतिका उपन्यास की कथावस्तु

4.3 शकुंतिका उपन्यास के पात्र

4.3.1 मुख्य पात्र

4.3.1.1 भगवती

4.3.1.2 दशरथ

4.3.4.3 दुर्गा

4.3.1.4 उग्रसेन

4.3.1.5 सिया - गार्गी-गहु

4.5.1.6 गौण-पात्र

4.4 शकुंतिका उपन्यास : कथोपकथन

4.5 शंकुतिका उपन्यासमें चित्रित देशकात वातावरण

4.6 शकुंतिका उपन्यास की भाषा-शैली

4.7 शकुंतिका उपन्यास का उद्देश्य

निष्कर्ष:

संदर्भ सूची:

चतुर्थ अध्याय
'शकुंतिका' उपन्यास का तात्त्विक विवेचन

भूमिका

भगवानदास मोरवाल का 'शकुंतिका' उपन्यास स्त्री शिक्षा के माध्यम से स्त्री के सबलता का संकेत देकर समाज में जागृती लाने की और संकेत करता है। आरंभ से भारतीय संस्कृति पुरुषसत्ताक होने के कारण परिवार में स्त्री को दुय्यम दर्जा प्राप्त है सही कारण है कि उसे हीन माना गया लेकिन प्रस्तुत उपन्यास के माध्यम से भगवानदास मोरवाल जीने इस परंपरा में किस प्रकार परिवर्तन लाया जा सकता है। इस और भी पाठकों का ध्यान आकर्षित करने का प्रयास किया है। स्त्री संपूर्ण परिवार को अपने साथ लेकर चलने का प्रयास करती है। यही कारण है कि स्त्री परिवार की महत्त्वपूर्ण जिम्मेदारी निभाते हुए भी उसकी स्थिति को परिवार मे महत्त्व नहीं दिया जाता।

भारत के तमाम जाति वर्ग के लोगों में यह अत्यंत दृढ विश्वास है कि बेटियाँ अपने माता-पिता से अधिक प्रेम करती है। भारतीय संस्कृति में कहाँ यह जाता है कि जिस घर में बेटियाँ होती हैं उस घर के वृद्ध व्यक्ति कभी आश्रम में नहीं जाया करते। यही बेटियाँ भारतीय संस्कृति की अमूल्य धरोहर हैं। लेकिन इसमें एक कटू सत्य यह भी हैं कि भले ही भारतीय संस्कृति का निर्माण त्याग और आदर्श की भावभूमि पर हुआ हों लेकिन बेटे को ही कुलदीपक कहाँ गया है। इसी परंपरा को खंडित करते हुए भगवानदास मोरवाल अपने उपन्यास शकुंतिका के माध्यम से कहते हुए दिखाई देते हैं कि भले ही लड़कियाँ कुलदीपक नहीं होती है लेकिन उससे कम भी नहीं होती। इसी के आधार पर प्रस्तुत उपन्यास शंकुतिका का तानाबाना बुनने का प्रयास भगवानदास मोरवाल जी ने किया है।

भगवानदास मोरवाल जी की यह अत्यंत कम पृष्ठों की कृति फिर भी इस उपन्यास कृति के माध्यम से भगवानदास मोरवाल जी ने आकर गागर में भरने का एक महान कार्य किया है। शंकुतिका नाम से लिया यह उपन्यास शंकुतिया नामक चिड़िया के प्रतिक स्वरूप लिया गया है। जिस प्रकार चिड़िया इस डाल से उस डाल पर चहचहा कर आसपास का संपूर्ण वातावरण प्रफुल्लित करती है। ठीक उसी प्रकार बेटियाँ भी घर-आँगन को प्रफुल्लित करने का प्रयास करती है। इसीलिए पौराणिक ग्रंथों में भी स्त्री के आदर और सम्मान की बात की गई है। उन्हें प्रसन्न रखने की और थी संकेत किया गया है। रम संदर्भ मनुस्मृति की कुछ पंक्तियाँ है -

''यंत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यंत्रेतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रिया।।''[१]

अर्थात जहाँ स्त्री जाति का आदर-सम्मान होता है, उसकी आवश्यकताओं, अपेक्षाओं की पूर्ति होती है। उस स्थान समाज तथा परिवार से देवतागण भी प्रसन्न होते हैं। लेकिन जहां ऐसा नहीं होता और उनके प्रति तिरस्कारमय व्यवहार किया जाता है, वहां देवों की कृपा नहीं होती नहीं किए गये कार्यों की सफलता नहीं मिलती।

इसी पौराणिक पक्तियों को आधार स्वरूप रखकर भगवानदास जी ने अत्यंत सीधे और सटीक रूप में प्रस्तुत उपन्यास की रचना करने का प्रयास किया है। उपन्यास आकार मे लघु होने प्रश्चात भी पाठकों के ज्ञान जिज्ञासु वृत्ति का समाधान किसी भी उपन्यास की को समझने हेतु हमें उनकी तत्वों पर प्रकाश डालने की भी आवश्यकता महसूस होता है। उपन्यास के तत्त्व ही वह ढाँचा है जो उपन्यास रूपी इमारत को संभाले हुए होते हैं जिसमें कथानक (कथावस्तु), चरित्र-चत्रण कथोपकथन, देशकाल वातावरण, भाषा शैली, भी उद्देश भी महत्वपूर्ण होता है। जिसके आधार पर संपूर्ण उपन्यास को समझा जा सकता है।

प्रस्तुत अध्यायके अंतर्गत भी उपन्यास के तात्त्विक पक्ष को समझते हुए उसपर भी लेखन कार्य किया जाएगा ताकि इस उपन्यास कृति की भी गंभीरता और उपयोगिता पाठकों के सम्मुख आकर लेखन को न्याय देने के साथ ही स्त्रियों के जीवन के अनसुझे पहलुओं पर प्रकाश डालते हुए बाकी उसे स्पष्ट रूप से रेखांकित करने का प्रयास भी किया जाएगा।

4.1 उपन्यास के तत्वः

उपन्यास के अंतर्गत जो कहानी कही जाती है, उसमें कई सहायक तत्त्व होते है। उन्हीं तत्त्वों को शास्त्रीय भाषा में बहुत से नाम दिए गए हैं, जिनमें - कथावस्तु, कथोपकथन, देशकाल, वातावरण, शैली और उद्देश्य आदि। महत्त्वपूर्ण तत्त्व साहित्यिक उपन्यास कृति में दिखाई देते हैं।

4.1.1 कथावस्तुः

किसी भी उपन्यास की जो मूल कहानी होती है, उसे कथावस्तु या कथानक कहा जाता है। मनुष्य जीवन में अनेक घटनाएँ घटित होति रहती है। साहित्यकार या कृतिकर अपने उद्देश के अनुसार उनमें एक प्रकार की एकता लाते हुए ओर अपने माध्यम से इन कथानक की कल्पना की जाती है। संसाधन के रूप में रचनाकार कथासूत्र मुख्य कथानक, प्रासंगिक कथाएँ या अतर्कथाएं, उपकथानक, पत्र, समाचार लेख तथा डायरीओं के के पन्ने आदि का प्रयोग करता है। अपनी आवश्यकता के अनुरूप ही उपन्यासकार कथावस्तु का कथावस्तु का उपयोग करता है। अगर कथावस्तु में अनावश्यक पहलुओं को ले लिया जाए तो कथावस्तु सारहीन, विकृत, शिथिल बनने का भय भी लेखक को रहता है। इसीलिए कथावस्तु मे घटना के क्रम में उसका उदय विकास और अंत व्यवस्थित और लिखित रहना भी महत्पूर्ण होता है। उपन्यास में कथावस्तु को प्रस्तुत करने हेतू तीन रूपों का प्रचलन दिखाई देता है

जिसमे 1) लेखक तटस्थ दर्शाने की भाँति उसका वर्णन करता है।, 2) कथावस्तु मुख्य आ गौण पात्रों से कह ली जाती है। 3) पात्रों की श्रृंखला के रूपमें उसका वर्णण होता है। अतः कहा जा सकता है कि रोचकता, स्वत्याविकता और प्रवाह कथावस्तु के आवश्यक गुण है।

4.1.2 चरित्र-चित्रण और पात्र

कथानक के बाद दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व उपन्यास में चरित्र चित्रण अथवा पात्र योजना होता है। जैसा की देखा जाता है कि उपन्यास के मूल विषय में मानव और उसके संपूर्ण जीवन को चित्रित किया जाता है। पात्रों के माध्यम से ही उपन्यासकार अपने कृती सजीवता, सत्यता और स्वाभाविकता के साथ जीवन के संपूर्ण पहलुओं को उजागर करते हुए समाज के समझ प्रस्तुत करने का प्रयास करता है। वैसे देखा जाए तो उपन्यास के सभी तत्व अपना विशिष्ट महत्व रखते हैं। लेकिन कथानक और चरित्र एक-दूसरे के सफलता के लिए अधिक निकट होते हैं। इसलिए इनका पारस्पारिक संतुलन होना अनिवार्य होता है।

कथानक के अनुरूप पात्रों का चयन होना भी आवश्यक होता है। उपन्यासकार जिस वर्ग के पात्रों का चुनाव करता है, उसमें बाह्या एवं आंतरिक व्यक्तित्व की सामान्य और सूक्ष्म विशेषताओं, उसकी आकृती वेशभूषा, वार्तालाप और भाषा-शैली आदी कथावस्तु के अनुरूप होना आवश्यक है। अन्यथा दोनो में होनेवाला विरोधाभास रचना को असफलता की और लेकर जाने का कार्य करता करता है। इस युग के पात्र संबंधी प्राचीन और नवीन धारणा में पर्याप्त अंतर आया है। पहले मुख पात्र नायक और नायिका के उपर विशेष ध्यान दिया जाता था। लेकिन आपके समय में संपूर्णपात्रो विशेध्यान हुए उन्हें महत्वपूर्ण माना जाने लगा है है। यह संभव हो पाया है केवल मनोविज्ञान के क्रांतिकारी अन्वेषण के कारण आज आज रचना के संपूर्ण पात्रों के

बाहरी एवं.भीतरी व्यक्तीत्व का मनोविज्ञानिक विश्लेषण किया जाता है जिससे उनके चरित्र में स्वाभाविकता और यथार्थता आ जाती हैं। यही कारण के आजके समय में पात्रों का अपना एक स्वतंत्र अस्तित्व दिखाई देता है। इसी आधार पर पात्रों को चार वर्गों मे बाँटा जाता है -

1) वर्ग विशेष के प्रतिनिधि

2) विशिष्ट व्यक्तित्ववाले

3) आदर्शवादी

4) यथार्थवादी

यही कारण है कि आपके समय में वही उपन्यास को विशिष्ठ उपन्यास की संज्ञा दी जाती है जिसमें पात्र के जीवन की संपूर्ण यथार्थ स्थिति का संवेदनशील और प्रभावपूर्ण प्रस्तुतिकरण होता है।

4.1.3 कथोपकथनः

कथोपकथन यह उपन्यास की कथावस्तु के विकास तथा पात्रों के चरित्र - चित्रण में सहायक होता है। इससे कथावस्तु में नाटकीयता और सजीवता आ जाती है। साथ ही कथोपकथन यह पात्रों की आंतरिक मनोवृत्तियों के स्पष्टीकरण मे भी सहायक होते हैं। इसका विधान पात्रों के चरित्र, देश, स्थिति, स्वभाव शिक्षा, अशिक्षा, आदि के अनुसार होना चाहिए। पात्रो के वार्तालाप में स्वाभाविकता का होना भी अत्यंत आवश्यक होता है।

4.1.4 देशकाल वातावरण:

पात्रों के चित्रण को पूर्णता और स्वाभाविकता देणे के लिए देशकाल या वातावरण होना भी आवश्यक होता है। घटना का स्थान, समय, तत्कालीन विभिन्न परिस्थितियों का संपूर्ण ज्ञान उपन्यासकार को होना आवश्यक होता है। ऐतिहासिक उपन्यासों का तो यह प्राणतत्व है। अगर किसी राजा-महाराजा को सूट और बूट में पेश किया जाये तो यह हास्यास्पद हो जायेगा देशकाल के वातावरण का वर्णन संतुलित होना चाहिए, जहाँ तक वह कथा - प्रभाव में आवश्यक हो तथा पाठक को वह काल्पनिक न होकर यर्थाथ लगे। देशकाल वातावरण में अनावश्य की अंशो की प्रधानता नही होनी चाहिए।

4.1.5 भाषा शैली:

उपन्यास लिखते समय उपन्यासकार को अपने भाव अपने विचारों को व्यक्त करने के लिए सरस और सरल भाषा शैली का प्रयोग करना अत्यंत महत्वपूर्ण होता है। आरंभ के समयमे संपूर्ण उपन्यास की शैली एक सी दिखाई देती है। सभी उपन्यास रुढीगत शैली में लिखे दिखाई देते हैं। तृतीय पुरुष के रूप में वर्णनात्मक शैली ही का प्रयोग अधिकांश उपन्यासो में किया गया है।

बाद में कलात्मक प्रयोगों के फलस्वरूप उपन्यासों में जब विकास हुआ तो सबसे अधिक प्रयोगशैली में उपन्यास लिखे गए धिरे धिरे कथा वस्तुओं में परिवर्तन से आधुनिक साहित्य के अंतर्गत नवनवीन विधाओं का समावेश होता गया। जिसमे आत्मकथाशैली पत्रशैली, डायरीशैली वर्णनात्मक शैली विश्लेषणात्मक शैली नाटकीय शैली फ्लॅशबॅक शैली, लोककथात्मक शैली, कथोकथन शैली आदि का प्रयोग आधुनिक उपन्यासों मे किया जाने लगा है।

अन्वेषण के भितरी व्यक्तित्त्व का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया जाता है। जिसस आज रचना के संपूर्ण पात्रों के बाहरी एवं केंद्रिय चरित्र में स्वाभाविकता और यथार्थता आ जाती हैं। यही कारण से आपके समय में पात्रों का अपना एक स्वतंत्र अस्तित्व दिखाई देना है। इसी आधार पर पात्रों को चार वर्गों मे बाँटा जाता है 1) वर्ग विशेष क) प्रतिनिधि 2) विशिष्ट व्यक्तित्ववाले 3) आदर्शवादी +) यथार्थवादी यही कारण है कि आपके समय में वही उपन्यास को विशिष्ट उपन्यास की संज्ञा दी जाती है जिसमे पात्र के जीवन की संपूर्ण मचार्य स्थिति का संवेदनशील और प्रभावपूर्ण प्रस्तुतीकरण लेता है।

4.1.6 कथोपकथनः

कथोपकथन यह उपन्यास की कथावस्तु के विकास तथा पात्रों के चरित्र - चित्रण में सहायक होता है। इससे कथावस्तु में नाटकीयता और सजीवता आ जाती है। साथ ही कथोपकथन यह पात्रो की आंतरिक मनोवृत्तियों के स्पष्टीकरण मे भी सहायक होते हैं। इसका विधान पात्रों के चरित्र, देश, स्थिति, स्वभाव शिक्षा, अशिक्षा, आदि के अनुसार होना चाहिए। पात्रों के वार्तालाप में स्वाभाविकता का होना भी अत्यंत आवश्यक होता है।

4.1.7 उद्देश्यः

उपन्यास के अतंर्गत उद्देश्य से तात्पर्य यह है कि जीवन की व्याख्याा अथवा आलोचना से है। प्राचीन समय में उपन्यास को रचना के प्राय दो मूल उदेश्य हुआ करते थे। एक होता था उपदेश देने की वृत्ति और दूसरा उद्देश्य होता केवल कोरा मनोरंजन, जिसका आधार कौतुहल या कल्पना हुआ करता था। आज के समयमे उपन्यास में जीवन का यथार्थ चित्रण होता है। इसलिए उपन्यासकार, जीवन के

साधारण और असाधारण व्यापारों का मानव जीवन पर कैसा प्रभाव पडता है। इसका आकलन करता है।

4.2 शकुंतिका उपन्यास की कथावस्तुः

औपन्यासिक दृष्टि से कथावस्तु को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। कथावस्तु उपन्यासका मूलतत्त्व है। कथावस्तु उपन्यास का मुख्य आधार होती है इसी के आधार पर उपन्यास आगे बढ़ते हुए दिखाई देता है। उपन्यास के अंतर्गत घटने वाली घटनाएँ ही कथावस्तु का रूप लेती हुई दिखाई देती है। उपन्यासके अंतर्गत एक मुख्य तथा होती है लेकिन इस मुख्य कथा के साथ ही कई अन्य प्रासंगिक कथाओं की रचना भी उपन्यास में की जाती है।

शकुंतिका भगवानदास मोरवाल का नविनतम उपन्यास है। जो रामकमल प्रकाशन, नई दिल्ली द्वारा सन 2020 में प्रकाशित हुआ है। शकुंतिका यह उपन्यास भारतीय समाज की उस धारनामे आए बदलाव को रेखांकित करता है जो लड़कियों को लडकों से कमतर आती रही है। शकुंतिका यह उपन्यास हमारी भारतीय पारिवारिक मानसिकता एवं गलत रूढी की वास्तविकता को उजागर करनेवाला एक सशक्त उपन्यास है। जिसमें बेटियों को अभिशाप या पराए घर का धन माना जाता रहा है। भगवानदास मोरवाल जी ने उपन्यास का शीर्षक शकुंतिका रखा है, जिसका अर्थ होता है चिडिया जिस प्रकार चिड़िया डाली पर धूमधूम कर चहचहाती है। अपने सुनहरे कंठ से आस-पास का संपूर्ण स्थान आनंद से भर देती है। इस डाली से उस डाली पर चिडिया जिस प्रकार फुदकती है ठिक इसी प्रकार पूरे परिवार में चार चिड़ियाँ हैं। जो दिन भर इधर उधर फुदकती रहती है जिनके कारण हमेशा घर में रौनक बनी रहती है।

उपन्यास की कथावस्तु में बेटियों के जन्म से लेकर उनके पढने, विवाह होने तक की सामाजिक संरचना और सामाजिक विशेष की अवस्था को रेखांकित किया गया है। संपूर्ण भारतीय समाज पुरुषी मानसिकता का शिकार दिखाई देता है। लेकिक उपन्यास में वर्णित एक परिवार ऐसा भी है जो इन दकियानुसी रूढियों को स्वीकार नहीं करता है और बेटियों को बेटों से अधिक महत्त्व भी देता है। इस संदर्भ मे उपन्यास की कुछ पंक्तियाँ है दृष्टात हैं, ''ऐसे निकम्मे पोतों से तो ऊपरवाला दशरथ-भगवती जैसी एक पोती ही दे देता। सत्यानाशियों में से एक भी तो काम का नही निकला।''[२]

इसी प्रकार यह उपन्यास सामाजिक संरचना की भेदात्मक रीतियों को लेखक चुनौती देता हुआ दिखाई देता है। कथावस्तु के रूप में वर्तमान भारतीय समाज मे बढ रही पाशविक प्रवृति को उजागर कर के मनोवैज्ञानिक रूप से सामाजिक सच्चाई को उजागर किया है, जहाँ पर विभेद के लिए स्थान नहीं है। इस उपन्यास की कथा इस बात को रेखांकि करती है कि जिसे हम संस्कृति नाम दे रहे हैं दरअसल वह एक ढकोसला मात्र है। सामाजिकता का दायरा केवल असमानता पर नही टिक सकता है, केवल एक पक्ष मजबूत हो ओर दूसरा विकलांग तो समाज का ढांचा एक दिन नष्ठ हो जाएगा। इसी आधार उपन्यास का तानाबाना बुना गया लेखक भगवान दास मोरवाल ने इस उपन्यास में दो परिवारों की स्थिति को आधार बनाकर अपने उपन्यास को सामाजिक यथार्थ की धरातलपर रचने का कार्य किया है। जिसका एक परिवार है उग्रसेन और दुर्गा का तो दूसरा परिवार है दशरथ और भगवती का उग्रसेन का जो परिवार है उसमें उग्रसेन न और दुर्गा को दादा-दादी बनने की ख़ुशी है। उनके पुत्रों को भी पुत्ररत्न प्राप्त हुए है जिनका देखकर वह हमेशा उत्साहित रहते हैं, परंतु यह उत्साह अधिक दिनों तक नहीं रह पाता है। धीरे-धीरे उग्रसेन के बेटो में दरार उत्पन्न हो जाती हैं। इसी कारण पारिवारिक दूरियाँ बढ़ने लगती है। परिवार में पोतों पर कोई

अंकुश नही रहता है। वह ठिक से पढ़ाई में भी खरे नहीं उतर पाते हैं। फिर वह इतने बिघड़कर बतमिज हो जाते हैं कि मोहल्ले, समाजवाले लोग भी उनके उपर आक्षेप लेने लगते हैं। मोहल्ले वाले कहने लगते है कि दिनबदिन उग्रसेन के पोते नालायक और बदचलन होते चले जा रहे हैं। उग्रसेन के दोनों बेटे कई मतभेदों को लेकर परिवार सहित अलग-अलग जगह पर रहने लगते हैं और वही अपना व्यवसाय करने लगते है। अंत में उग्रसेन और दुर्गा बुढापे में अकेला रहकर असहाय महसूस करते हैं। दूसरा परिवार दशरथ और भगवती है, जो अपने परिवर कि. साथ उसी मोहल्ले में रहते हैं। उनके दो पुत्र है। बड़ा पुत्र बलवंत है. और छोटा पुत्र रूपेश हैं। बलवंत की तीन बेटियाँ है- सिया, गार्गी और बुलबुल दुसरे पुत्र की कोई संतान नहीं है। बेटियों की अधिकता को जे लेकर परिवार में कोई मलाल नहीं है, बल्कि सभी बेटियों को उतना ही चाहते हैं जितना बेटो को कोई चाहता है ।उनकी दृष्टि में किसी भी तरह का कोई लैंगिक भेदभाव नहीं है और न ही वह परिवार में उनमे कोई भेद करना जानते हैं, बल्कि वे तो लोगों को सलाह देते हैं कि पुत्र जितने काम नहीं आते हैं, उतमी पुत्रियाँ काम आती है। दशरथ की पत्नी भगवती इसी पक्ष को लेकर परिवार की प्रमुख इकाई के रूप में उपन्यास में उभरी हैं। वह बेटों और बेटियों में कोई फर्क नही मानती हैं।

भगवती के दूसरे पुत्र को कोई बेटा-बेटी नहीं इसी कारण वह थोड़ी चिंता महसुस करते हैं। लेकिन उनकी सभी चिंता उसी दिन समाप्त हो जाती है जब उसके दूर बेटे के लिए उग्रसेन की। पत्नी दुर्गा स्वयं भगवती को कहती है कि तेरे छोटे बेटे रुपेश को चाहिए कि वह एक संतान को अनाथालय से गोद ले यही बात भगवती अपने को परिवार को बताते हुए कहती है, ‘‘एक बात और बताऊ मैंने जब एक दिन उसे बच्चा गोद लेने के बारे में कहा तो पता है क्या बोली बोली की भगवती किसी लडके वडके के चक्कर में तो पड़ना मत लड़कों का सूख मैं कितना भोग रही हूँ, मैं

ही जानती हूँ। अपनी पोतियों को देख रही है न। जहाँ तीन है, वहाँ चौथी भी सही मेरा बस चले ना भगवती, तो मैं अपने घर आज ही लड़की ले आऊ-।''[3]

इसी प्रकार दुर्गा लड़कियों के संदर्भ में अपने विचार प्रस्तुत करते हुए लड़कियों के महत्व को उपन्यास में प्रस्तुत करती हैं। उग्रसेन के परिवार में आपसी सलाह मशवरा किया जाता है। रुपेश और जयंती अनाथालय से एक बेटी को गोद ले अति हैं। धीरे-धीरे बेटी बड़ी होती है, इधर सिया वकील बन जाती है, गार्गी डेंटल डॉक्टर बन जाती है। सिया अपनी पसंद से विवाह हो जाता है। गार्थी और बुलबुल का भी विवाह हो जाता है। गोद जी हुई बेटी पीहू ऑस्ट्रेलिया पढ़ने चली जाती है। की कुछ सालो तक पढ़ती है, वही कंपनी के कैम्पस इंटरव्यू के दौरान सिलेक्ट। हो जाती है और उसे बड़ी नौकरी का ऑफर मिलता है। उसके पश्चात् पीहु भारत लौटती हैं। तब दादा-दादी की मृत्यु हो चुकी हैं। उसे बहुत दुख होता है। वह कहती है कि उसने नौकरी का ऑफर ठुकरा दिया। तब परिवारवालों के समझाने के बाद वह ऑफर स्विकार कर होती है। और अंत में उस अनाथालय जाती है जहाँ से उसे गोद लिया गया था। वह वहाँ बड़ा दान भी देती है। अंत में पीहू मेलबर्न लौट जाती है। यहाँ उपन्यास की कथावस्तु समाप्त हो जाती है।

अंत: कहा जा सकता है कि शकुंतिका ऐसा उपन्यास है जो सामाजिक यथार्थ को केंद्र मे लेकर चलता है। जिसमें लैंगिक भेद के साथ ही भारतीय पारिवारिक मानसिकता का प्रतिबिंब हमें स्पष्ट रूप में देखने को मिलता है। लेखक उन गलत भरसक रूढ़ियों को तोडकर समाज में एक नया आदर्श प्रस्तापित करने का प्रयास कर रहे हैं। यही कारण है कि शकुंतिका यह उपन्यास लघु उपन्यास होने के ही साथ पाठक इसके प्रभाव से बच नहीं सका है।

4.3. शकुंतिका उपन्यास के पात्रः

भगवानदास मोरवाल का उपन्यास शकुंतिका अपनी प्रकृति में एक आदर्शवादी सामाजिक उपन्यास है। किसी उपन्यास का एक महत्वपूर्ण तत्त्व उसकी पात्र योजना या चरित्र- चित्रण होता है। घटना का विन्यास पूर्णता पात्र के उपर ही आधारित होता है। उपन्यास में उपन्यासकार जो संदेश देना चाहता है वही इसी के माध्यम से देने का प्रयास करता है। भगवानदास मोरवाल जी ने अपने इस उपन्यास के द्वारा पाठकों को एक बड़ा सामाजिक संदेश भी देने का प्रयास किया है। इन घटनाओं और कार्यो व्यापारों का निर्वाहन करने के लिए उन्हें दो भागों में विभाजित करने का प्रयास किया है इसमें मुख्य पात्र और गौण पात्र का वर्णण किया गया है। मुख्य पात्रों के अंतर्गत दशरथ, भगवती, उग्रसेन, दुर्गा, सिया, गार्गी, पीहू आदी का नाम आ जाता है। गौण पात्रों में बलवंत-रेवती, रुपेश जयंती, नागदन्त-कौशल्या, अभय, कुसुम, बुलबुल, विजय, विभोर, रोहन, अमित, आख्तरी आदी पात्रो के नाम लिए जा सकते हैं।

4.3.1 मुख्य-पात्रः

मुख्य पात्रों के बिना कथावस्तु को गति मिलती नहीं है। मुख्य पात्रों के अंतर्गत इस उपन्यास में भगवती, दशरथ, दुर्गा, उग्रसेन, सिया, गार्गी, पिहू का वर्णन किया जा सकता है।

4.3.1.1 भगवतीः

भगवानदास मोरवाल ने अपनी मुख्य कथा को दो परिवार के माध्यम से पाठकों के सामने रखा है। पहला परिवार भगवती और दशरथ का है। जिसमें परिवार हेतु लिए जानेवाले निर्णयों, में भगवती की अहम भूमिका है और सारा परिवार उसके मश्वरे को महत्त्व देता है। इस परिवार में भगवती और दशरथ के अतिरिक्त उनके दो

बेटे बलवंत और रूपेश है। इनकी पत्नीयाँ क्रमश: रेवती और जयंती हैं। बलवंत और रेवती की तीन बेटियाँ-सिया, गार्गी, बुलबुल हैं। तथा रुपेश और जयंती की गोद ली हुई बेटी पिहु भी है। जिसको अनाथालय से गोद लिया गया है। यह परिवार मध्यवर्गीय सज्जन परिवार है। इसे भी आगे वंश चलाने के लिए बेटों की चाहत है। परंतु यह चाहत उनकी कुप्रवृत्ति नहीं बन गई है। उन्हें अफसोस जरूर है, पर वे इस बात को लेकर अपनी बेटियों के साथ कोई दुर्व्यवहार नहीं करते बल्कि इस परिवार में प्रगतीशीलता के तत्त्व हमें देखने को मिलते हैं और सबसे प्रगतिशील चरित्र जो हमें इस परिवार में देखने को मिलता है, वह भगवती का चरित्र है।

भगवती पढ़ी-लिखी है या नहीं इस संदर्भ में उपन्यास में कुछ वर्णन नहीं किया गया है। पर उसे सामाजिक जीवन की पूरी समज है। अपनी पोतियों को लेकर उसके मन में कुछ दुराभव नही है बल्कि बदलते हुए सामाजिक परिवेश के अनुरूप वह अपने क्रियाकल्पो और मानसिकता में परिवर्तन कर लेती है। अपनी पोतियों को आगे पढ़ाने में उसकी बड़ी भूमिका हमें देखने को मिलती हा यह उसके प्रगतिशील होने का ही प्रमाण हैं। वह उनके विवाह आदी को लेकर चिंतित होती है, पर उनके पढ़ने-लिखने, आगे बढ़ने में वह पूरा सहयोग करती हैं। जब उसके बेटा और बहू के बच्चा गोद लेनी की बात होती हैं तो अपनी सहेली दुर्गा उनको सुझाव देती है। गोद भी कोई अपने रिश्तेदार या भाई की बेटी नहीं बल्कि अनाथ आश्रम से लेने की सिफारिश की। समाज के कडवे सच को उजागर करते हुए दुर्गा कहती है, ‘‘सुन भगवती बूरा मत मानियो। इस वंश बढ़ाने केा भूख ने हमारी बेटियों की दुर्गती की हुई है। थोड़ी देर के लिए मान लो तुमने लड़के को गोद ले लिया, तो इसकी क्या गारंटी है वह तेरी इन पोतियों को बहन का दर्जा दे ही देगा। कही ऐसा न हो कि सारी जायदाद पर कब्जा कर बैठे, और तेरी ये पोतियाँ यहाँ के सुखों के लिए कर

तरस जाएँ। इस बारे में अच्छे तरह सोच लेना।''[४] जयंती और रूपेश अपनी माँ से सहमत होकर ही पिहु को गोद ले लेते हैं।

सिया और मार्ग अपने-अपने जीवन पथ पर आगे हुए कर्म का मार्ग सुनिश्चित कर लेती हैं, तब उनके विवाह का प्रश्न उपस्थित होता है। सिया और गार्गी के इस फैसले को कि वे अपने सहपाठियों से विवाह करना चाहती है। जो कि सजातीय। नहीं है - एक मौन विद्रोह विरोध के बाद वह स्वीकार करती हैं, पर इस विरोध में हमें समझदारी देखने को मिलती है। वह अपनी पोतियों के इस फैसले को स्विकार करते हैं। जिसके परिणाम आगे चलकर बहुत अच्छे होते हैं। इस तरह भगवती चरित्र में हमें प्रगतिशीलता के तमाम लक्षन देखने को मिलते हैं। भगवती चरित्र में दृढता है, सहनशीलता है, समझदारी है। वह एक अच्छी पड़ोसी है। पिछले पैंतीस-चालीस सालों में दुर्गा एवं उग्रसेन के परिवार से तो घरेलू संबंध विकसित हुए हैं, उन्हें वह निभाना जानती है। समय-समय पर भगवती और दुर्गा दोनों एक दूसरे के परिवार पर आई हुई समस्याओं को लेकर एक दूसरे को परामर्श देती है। इसी प्रकार हम देखते हैं कि भगवती के चरित्र के माध्यम से भगवानदास मोरवाल जी ने भारतीय समाज के विभिन्न सकारात्मक पक्षों का चित्रण किया है।

4.3.1.2 दशरथः

रचनाकार भगवानदास मोरवाल जी ने दशरथ के चरित्र का विकास एक ऐसे व्यक्ति के रूप में किया है।जो बेघर खुले मस्तिष्क का व्यक्ति है वह अपने परिवार से बेहद लगाव रखनेवाला है। अपनी पत्नी भगवती की बहुत इज्जत करता है। वह उसके हर फैसले में सहायक होता है। जब दशरथ की पौतियाँ-सिया और गार्गी, जाति के बंधन को तोड़कर अपने विवाह का फैसला करती हैं, तब भगवती के होता है। बच्चों

के भविष्य का ध्यान रखते हुए उनके फैसलों का सम्मान और हुए साथ-साथ समर्थन करते हुए उनके प्रेमविवाह को सहर्ष अनुमति भी दे देते है।

उपन्यास में यह दिखाई देता है कि इस परिवार का नेतृत्व हर रूप में भगवती ही कर रही होती है। परिवार में सुमति है, सारे लोग एक साथ एकत्रित होकर ही कोई फैसला करते हैं, और उस फैसले से होनेवाले सकारात्मक एवं नकारात्मक दुषप्रभाव के समय भी मजबूती से एक दूसरे के साथ खड़े रहते हैं। किसी भी परिवार की नींव को मजबूत बनाए रखने के लिए यह बेहद जरूरी होता हैं।

दशरथ का व्यक्तित्त्व उदारतावादी दिखाई देता है। वह अपने परिवार पर पूरी समझदारी के साथ और पूरे विश्वास के साथ अपने फैसलों को संचालित करता है। इसीलिए उस पूरे परिवार में आपस में काफी सुमति है। अपनी पोतियों के फैसलों पर भी वह झूठे अहिंकार के आधार पर विचार नहीं करता और नाही प्रतिक्रिया देता है, बल्कि वह समय के साथ उनके फैसलों पर विचार करते हुए उन्हें समर्थन देता है। जब सिया विजातीय लड़के से विवाह करने का निश्चय करती है और इस संदर्भ मे अपने घर में अपने बुजुर्ग के सामने अपने विचार प्रस्तुत करती है।

समझदारी से उसका समर्थन करने विवाह को अनुमति प्रदान करते हैं। वास्तविक रूप मे परिवार को ठीक ढंग से संचालित करने के लिए ऐसी ही उदारता और समझदारी की आवश्यकता होती है। दशरथ के इस उदार स्वभाव के कारण ना केवल उसके बेटे-बहू बल्कि उसकी पोतियाँ भी उसकी बहुत इज्जत करती है, और उसकी कही बातों को सब बड़े ध्यान से सुनते, और उसका अनुसरण करते हैं।

दशरथ एक अच्छा पड़ोसी भी है। वह उसकी पत्नी भगवती अपने पड़ोसी उग्रसेन और दुर्गा के हर सुख-दुख में सम्मिलित होते हैं। वे उनके वैभव आदि को लेकर के प्रति उनके वैभव आदी को लेकर कोई द्वेष-भाव नहीं रखते बल्कि अपनी

स्थितियों से वे पूरी तरह संतुष्ट बने रहते हैं और अपने पड़ोसियों के लिए वे जो भी बेहतर कर सकते हैं, करने का प्रयास करते हैं। अपने पडोसी के घर मे जब महाभारत छिडी थी तब दशरथ ही अपने मित्र उग्रसेन को स्थिति समझते हुए भगवती को कहते हैं, ''दरअसल उग्रसेन के दुखी होने की एक और वजह है, जिसे सुनकर मुझे भी लगा कि वह ठीक कह रहा है। कह रहा था कि बात-बात पर जिस तरह उसके पोते आपस में गाली-गलौच करते हैं। उससे पूरे घर को नरक बना कर रखा हुआ है। ना कोई छोटे की लिहाज, ना किसी बड़े की शर्म किसी की जुबान पर कोई काबू नहीं है। एकाध लड़की होती तो कम-से-कम बातचीत तो सोच-समझकर करते।''[५] इससे हमें यह पता चलता है कि दशरथ एक भला-मानस है, जो उदार भी है खुले विचारों का है और उसे समय से तालमेल बिठाना बखूबी आता है।

4.3.1.3 दुर्गाः

दुर्गा, उग्रसेन की पत्नी हैं। दुर्गा और उग्रसेन के दो बेटे हैं-नागदत्त और अभय। हर तरिके से यह परिवार सुखी और संपन्न ही समाज में मान-सम्मान है। उग्रसेन और दुर्गा चार-चार पोतों के दादी-दादा है। यह भी उनके लिए समाज में सम्मान की बात है। पर जल्द ही इस रूढ़िवादी कुंठा का दुष्परिणाम भी उन्हें देखने को मिलता है। दुर्गा बेहद संघर्षशील और दृढ़-निश्चयी महिला है।

उनके व्यक्तित्व में भी उदारता दिखाई देती है। दशरथ और भगवती की तरह वह भी खुले विचारों की महिला है। अपने हर निश्चय के साथ वह उग्रसेन के साथ अपनी गृहस्थी को भली प्रकार से संचालित करती है। पर जहाँ धन और स्वार्थ आजाए. वहॉ रिश्ते बड़ी तेजी से बिखरने लगते हैं, दुर्गा के परिवार के साथ ऐसा ही होता है। एक-एक करके दुर्गा के दोनों बेटे अपने अपने परिवार को लेकर नये जगह

जा बसते हैं। उनका खुद का व्यापार है धन की कमी नहीं उनमें संस्कार संचलित नही हो पाये हैं।

नागस्त और अभय के दो- दो बेटे जो कुसंस्कारी हैं। शिक्षा-दिशा और अध्ययन में जिनका बिलकुल भी मन नहीं लगता। अपने बूरे आचरणों की वजह से पूरे मोहल्ले में उनकी आलोचना होती है। घर मे भी जब तक पूरा परिवार एक साथ था, इनके आचरणों की वजह में महाभारत मचा रहता है। दुर्गा इस बात को जल्द ही समाप्त की गई थी, घर में बेटों के साथ-साथ बेटियों का होना कितना अनिवार्य है, और यह समय का फेर था कि वह अपनी पड़ोसी भगवती से बार-बार यह अफसोस जताती है कि, काश उसके घर में बेटी होती।

दुर्गा के व्यक्तित्त्व की यह बड़ी महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि जीवन की आलोचना वह बेहद तटस्थ ढंग से करती है। वहाँ अपने पराए का कोई भेद नहीं है। उनकी दृष्टि समभाव वाली है। सिया, गार्गी, बुलबुल और पीहू के लिए उसका हृदय वैसा ही है, जैसा उसके अपने पोतों के लिए हैं। बल्कि इन चारों बहनों के पढ़ने-लिखने और आगे बढ़ने को लेकर वह भी बहुत उत्साहित और खुश होती है और उन्हें प्रोत्साहित करती रहती है। यह दुर्गा ही थी, जिसने भगवती को यह परामर्श दिया था कि रुपेश और जयंती को अनाथ-आश्रम से ही बेटी को गोद लेना चाहिए । इस संदर्भ में वह भगवती से कहती है, ''एक बात कहूँ भगवती, अगर बच्चा गोद लेने की नौबत आ भी जाए तो किसी अनाथाश्रम से लेना। कम-से-कम किसी अनाथ और बेसहाराको माँ-बाप तो मिल जाएँगे। उसको एक नई जिंदगी तो मिल जाएगी।''[६] इसी प्रकार हम देखते हैं कि दुर्गा बेहद सद्गुणी स्त्री है। वह अपने परिवार को भी गलतियों पर घेरे में लेती है। न्याय और अन्याय उसके लिए मूल्य है, जहाँ वह अपना-पराया नहीं देखती। वह अपने ही बेटों और बहुओं की उनके दुष्कर्मी के लिए आलोचना करती है। और

दूसरी तरफ भगवती और दशरथ के परिवार की प्रशंसा करती है। उसे गार्गी दुर्गा खुले विचारों की स्त्री है। मध्यमर्गीय रूढीवादिता उसे छू भी नहीं पाई है। भगवती की पोतियों सिया और गार्गी के विवाह आदि के प्रश्न पर उसका भी समर्थन रहता है। इससे यह दिखाई देता है कि वह आधुनिक खयालों को अपनाने और समर्थन देनेवाली है, और सही गलत के अनुरूप आचरण करना जानती है।

4.3.1.4 उग्रसेनः

उग्रसेन एक रूढ़िवादी विचारों का मध्यमवर्गीय व्यक्ति है, जिसने अपने जीवन में संघर्ष करके खुद को निर्मित किया है। एक छोटे से व्यवसाय से उन्नति करते हुए वह इस को इस मुकाम पर पहुँचा है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह अच्छा व्यक्ति नहीं है। परंपराएँ तोड पाना सबके बस की बात नहीं होती उसके लिए जैसा साहसी व्यक्ति चाहिए वैसा उग्रसेन नहीं था। आम लोगों के भाँति उसकी की इच्छा थी कि उग्रसेन उसके घर में भी पोते हो। और नियती ने उसे एक नहीं बल्कि चार-चार पोते दिए। लड़कियों के जन्मको श्राप की तरह मानने का संस्कार उसके भितर भी मौजूद था। पोतों के जन्म होने पर उग्रसेन का परिवार बहुत खुशियाँ मनाता है। जब यही पोते किशोर अवस्था में पहुँचते हैं, इनके कर्म उग्रसेन और दुर्गा को अफसोस करने पर मजबूर करते हैं। उनका सर शर्म से झुकने लगता है। यह चारों पोते न तो पढ़ने-लिखने में ही ध्यान लगाते हैं और न संस्कार सीखने में। पूरे मोहल्ले में इन सभी को अच्छी नजर से नहीं देखा जाता क्योंकि मारपीट करना, सिगरेट इत्यादि व्यसन और लड़कियाँ छेडना इनकी आदत में सम्मिलित था। इनके कर्म उग्रसेन और दुर्गा को पछताने पर विवश कर देते हैं। उन्हें इस बात का एहसास होता है कि लड़कों के होने से ही सुख और सुकून नहीं मिलता, बल्कि घर में लड़कियाँ भी होनी चाहिए। अपनी इसी भावना को व्यक्त करते हुए उग्रसेन, दशरस से कहता है, ‘‘दशरथ अब पता

चल रहा है कि जिस घर की दरो-दीवार लड़कियों की कूक से गूँजती रहती है, उस घर को दुनिया का खुशनसीब परिवार क्यों कहा जाता है।'' इससे घर संस्कारी बनता है। अपने जीवन में विचारों के कारण उग्रसेन को कई बार पछताना पड़ता है।

उग्रसेन के चरित्र को देखकर इस बात का एहसास होता है कि जीवन में धन संपत्ती और वैभव ही सब कुछ नही होता। शिक्षा और संस्कार भविष्य के निर्माण के लिए अनिवार्य होते हैं। उग्रसेन ने अपने जीवन में खूब संघर्ष किया। खूब धन संपत्ति एकत्रित की और अपने बच्चों का भविष्य सुरक्षित किया। धन संपत्ती ने उसी कभी घमंडी नही बनाया। हाँ, यह अवश्य है कि उसकी संताने और उसके पोते जरूर अपने भीतर वे गुण नही उत्पन कर सके। जैसे स्वयं उग्रसेन के थे। उग्रसेन अपने पड़ोसी दशरथ को अपने भाई जैसा ही समझता था। दशरथ के परिवार के हर सुख-दुख, विचार-विमर्श में उसकी भी भूमिका होती थी और उग्रसेन भी बिलकुल अपने परिवार की तरह ही दशरथ के परिवार को भी अपनी ईज्जत समझता था और हमेशा इसी को ध्यान रखकर वह कोई परामर्श देता था।

दशरथ और भगवती की पोती सिया जब विजातीय विवाह के लिए अपने दादा दादी और माता-पिता से कहती है, तो वह सब व्यथित हो जाते हैं। उन्हें यह बात ठीक नहीं लगती और उग्रसेन -दुर्गा आदि से भी वे इस विषय में विचार-विमर्श करते हैं। जिस पर दशरथ को समझाते हुए उग्रसेन कहता है, ''दशरथ, तू भी कैसी बच्ची जैसी बातें कर रहा है। अरे! यह सब कहने की बात है। बिरादरी वाले रिश्ते की क्या गारंटी है कि वहाँ सिया खुश और सुखी रहेगी। यह नए जमाने के बच्चे हैं। अगर इसने कोई फैसला किया है, तो कुछ अच्छा बुरा समझकर ही किया होगा।''[८] इसी प्रकार हम देखते हैं कि उग्रसेन भी प्रगतिशील विचारों का व्यक्ति है जो परिवर्तनों को सकारात्मक रूप में स्विकार करता है।

4.3.1.5 सिया-गार्गी-पीहूः

बलवंत और रूपेश की यह बेटियाँ बेहद संस्कारी थीं। जाहिर सी बात है, परिवार के जैसे संस्कार होते हैं। भविष्य मे सन्तानों पर भी वैसे ही संस्कार हमे दिखाई देते हैं। सिया, गार्गी, बुलबुल और पीहू-चारों बेटियाँ न सिर्फ शिक्षा-दीक्षा के मामले में बढ़-चढ़कर थाी, बल्कि अपने परिवार की बेहद आज्ञकारी थी। सिया चौर गार्गी ने उच्च शिक्षा पाई और अपनी अपनी धारा में अपना व्यवसाय निर्मित किया। पीहू, जो सबसे छोटी थी वह अपनी बहनो से भी आगे निकल गयी उसने विदेश में उच्च शिक्षा पाई और वही बहुराष्ट्रीय कंपनी में संकलित और प्रतिष्ठित पद भी पाया। दशरथ और भगवती ने बिना किसी भेदभाव के अपनी पोतियों के पढ़ने लिखने पर कभी कोई रोक नहीं लगाई। बेटियों ने भी अपने परिवार को निराश नहीं किया। उन्होंने अपना करियर बेहतर तरिके से निर्मित किया और अपने परिवार का नाम रोशन किया। हमारे मध्यवर्गीय समाज में कुछ प्रथाएँ इस तरह की है, जो जीवन को कई बार नरक में तब्दील कर देती हैं। विवाह संस्था भी इसी तरह से है। जहाँ जाति और वर्ष का आग्रह रखकर विवाह किए जाते हैं। दशरथ और भगवती को भी अपनी उन बेटियों के विवाह की चिंता होती थी। सबसे बड़ी सियाने अपने ही एक सहपाठी को अपना जीवनसाथी बनाने का निश्चय किया पर इसके लिए उसने बकायदा अपने परिवार की अनुमति ली।

परिवार से न तो विद्रोह किया और न ही कोई गलत कदम उठाया। परिवार ने भी अपनी इस पढी - लिखी बेटी की बात को सुना समझा और उसे विवाह की अनुमति प्रदान की। ऐसा गार्गी ने भी किया। परिवार ने गार्गी को भी अनुमति दी और गार्गी ने भी विजातीय विवाह किया। परंतु हम देखते हैं कि, दोनों ही अपने जीवन में बेहद सुखी और संतुष्ट है। जबकि दूसरी तरफ जाति - बिरादरी का व्याल करते हुए

दशरथ और भगवती ने अपनी तीसरी पोती बुलबुल का विवाह सजातीय थोर इकलौते लड़के के साथ संपन्न कराया, पर बुलबुल का विवाह एक असफल विवाह बननेवाला होता है, यदि सिया आकर उसको न संभालती।

उपन्यास में उपन्यासकार भगवानदास मोरवाल जी ने सिया गार्गी, पीहू के माध्यम से पूरे समाज को एक सकारात्मक संदेश दिया है। यदि बेटियों को बेटों की तरह ही पढ़ाया-लिखाया जाए, उन्हें भी आधुनिक शिक्षा से जोड़ा जाए तो उसके परिणाम बड़े सकारात्मक हो सकते हैं। शिक्षित होने के बाद ही गार्गी अपने परिवार और दुर्गा की मदद कर पाती है। शिक्षित होने के कारण ही सिया बुलबुल के नष्ट होते जीवन की रक्षा कर पाती है। उपन्यासकार भगवानदास मोरवाल ने शिक्षा के अतिरिक्त जीवन के संबंध में फैसले लेने के लिए भी बेटियों को आत्मनिर्भर बनाने की प्रेरणा ही है।

सिया और भार्गी की तरह उपन्यास में पीहू का चरित्र भी अत्यंत प्रेरणा देनेवाला है। पीहू एक अनाथ लड़की है, जिसे रुपेश और जयंती के द्वारा अनाथालय से गोद लिया जाता है। अपनी अन्य बहनों से वह उम्र में सबसे छोटी है, पर उपन्यास में उसके चरित्र का विकास जिस प्रकार किया गया है, वह अत्यंत प्रतिभाशाली साबित होती है। शिक्षा-दीक्षा के लिए जिसे विदेश अर्थात आस्ट्रेलिया जाने का अवसर मिलता है। वह अपनी उच्च शिक्षा पूरी करती है, परंतु वह भी एक भावुक और संवेदनशील लड़की है। वह करियर से ज्यादा परिवार को महत्व को देना चाहती है। इसीलिए वह ऑस्ट्रेलिया से भारत वापस आ जाती है। इसके बावजूद कि उसे ऑस्ट्रेलिया मे ही एक बहुराष्ट्रीय कंपनी में बड़े अच्छे पद पर नौकरी करने का ऑफर दिया था। भारत में अपनी बहनों-सिया और गार्गी के दबाव देने पर वह अंत: नौकरी स्वीकर कर लेती हैं, परंतु परिवार के प्रति उसका समर्पण कम नहीं होता।

इसी प्रकार इन बेटियों के माध्यम से उपन्यासकार ने पाठकों को एक प्रगतिशील दृष्टिकोण से परिचित कराया है। जीवन मि जो मूल्यवान है, उसका चयन होना चाहिए। परंपरा सदा ही जर्जर और व्यर्थ नहीं होती। परंतु समय के साथ परंपराओं का मूल्यांकन होते रहना चाहिए। और मूल्यांकन के बाद यदि उपयुक्त समझा जाए तो परंपराओं को बदलना कोई बूरी बात नहीं।

4.3.1.6 गौण-पात्रः

भगवानदास मोरवाल जी ने उपन्यास की रचनायें कुछ पात्रों को बड़ी भूमिका सौंपी है। वही दूसरी और कुछ पात्र ऐसे भी है, जिनकी भूमिकाएँ कम अवश्य है पर उपन्यास को दिशा देने में, उसकी घटनाओं को प्रभावोत्पादकता देने में जिनकी बड़ी भूमिका है। ऐसे पात्रों में बलवंत रेवती, रुपेश जयंती, नागदत्त-कौशल्या अभय-कुसुम, बुलबुल, रोहन विभोर, अमित, विजय आदि है। इन पात्रों के माध्यम से मोरवाल जी ने उपन्यास में कई तरह की प्रवृत्तियों को उजागर किया है।

बलवंत और रेवती एवं रुपेश और जयंती पति-पत्नी है। तथा भगवती और दशरथ बहू-बेटे है। इन चारों की भूमिका अत्यंत आदर्शवादी है। यह सभी संयुक्त परिवार के अंग है।

सभी लोग संयुक्त परिवार की अटूट परंपरा का बेहर निष्ठा से पालन करते है और उनकी किसी बात को हमेशा सिर झुका कर स्वीकार करते हैं। यही भाव रेवती और जयंती भी प्रदर्शित करती है। बड़ो के यह संस्कार बच्चों मे विरासत से आही जाते हैं। इसी कारण सिया, गार्गी, बुलबुल और पीहू चारों ही लड़कियाँ अपने परिवार के सभी बडों का उचित आदर और सन्मान करती है। जिसका परिणाम भी उन्हें अपने जीवन मे मिलता है। वह जो सफलता अपने जीवन में प्राप्त करती है, उसमें कहीं-न-कहीं परिवार की बड़ी भूमिका होती है।

एक और दुर्गा और उग्रसेन का परिवार है। जिसमें नागदत्त अभय उनके दो बेटे हैं, तथा कौशल्या और कुसुम दो बहुएँ हैं। इस परिवार में नागदत्त और अभय के कुल मिलाकर चार बेटे हैं। परंतु इस परिवार में संयुक्त परिवार होने के बाबजूद एक दूसरे के लिए त्याग और सम्मान की भावना उतनी नहीं है, जितनी कि दशरथ और भगवती की परिवार मे है। इसके अतिरिक्त नागादत्त और अभय दोनों ही स्वार्थी और लालची हैं। वह संयुक्त परिवार के हितों को छोड़कर अपने अपने व्यक्तिगत हित कि चिता ज्यादा करते हैं और जैसे अवसर मिलता है, वे अपने मात-पिता का घर छोड़कर अपने - अपने नए घरो में चले जाते हैं। वृद्ध होने के बावजूद उग्रसेन और दुर्गा अकेले ही अपने पुराने घर मे रहे जाते है। इन तरह नागदत्त और अभय अपने माता-पिता के प्रति जिम्मेदारियाँ का निर्वहन ठिक ढंग से नहीं करते। आगे आनेवाली पीढ़ी को यही संस्कार हस्तान्तरित होते हैं।

नागदत्त की देखादेखी उनकी पत्नियाँ भी संयुक्त परिवार की परंपराओं का निर्वहन ठीक ढंग से नहीं करती। वह भी लालची और स्वार्थी है। उग्रसेन और दुर्गा जब संपत्ति का बँटवारा करते हैं, तब कौशल्या और कुसुम का स्वार्थ और लालच उभरकर सामने आ जाता है। वे दोनों दुर्गा से पुराने घर का बँटवारा करने के लिए भी कहती है। जिस पर दुर्गा कहती हैं कि, ''बात कमी की नहीं है, बात भरोसे की है और फिर इसकी क्या गारंटी है कि इस मकान को इनके के बाद हमें इसमें रहने देंगें। कहीं ऐसा न हो कि ऐसा करने से हमारा यह आखिरी आसरा भी जाता रहे। जो होता है अच्छे के लिए होता है। कम-से-कम बहू-बेटों की नीयता का पता चल गया रही बात दुनिया की मुझे नहीं है उसकी चिंता। वैसे भी घर घर की यही कहानी है।''[९] इसी प्रकार हम देखते हैं कि कैसे लालच और स्वार्थ एक परिवार को दुखी और आत्मकेंद्रित बना देते हैं। उपन्यासकार भगवानदास मोरवाल ने इन पात्रों के माध्यम से

समाज की नकारात्मकता को भली भौति चित्रित किया है। और उपन्यास में घटित घटनाओं से हमें इसके दुष्पपरिणाम के प्रति प्रेरणा भी मिलती हैं।

अंत कहा जा सकता है कि भगवानदास मोरवाल ने अपने शकुंतिका इस उपन्यास में जिस प्रकार से चरित्र को नियोजित किया है भूमिका के अनुरूप उन्हें जिस प्रकार स्थान दिया है वह बेहद सार्थक और तर्क संगत है। उपन्यास की घटनाओं और कार्य- व्यापारों को इन पात्रों के माध्यम से बड़े सशक्त रुपमें हमारे सामने उपस्थित किया है। चरित्रगत सृष्टि की दृष्टि से उपन्या अत्यंत श्रेष्ठ उपन्यास है।

4.4 शकुंतिका उपन्यास का कथोपकथनः

कथोपकथन मुख्यत: चरित्र प्रधान उपन्यासों में व्यक्तित्व और उनकी प्रवृत्तियों परिचयात्मकता हेतु उपन्यासो में कचोपकथन को विशेष महत्त्वपूर्ण लेता है। उपन्यासों में संवाद हेतु ही चरित्रक विशेषताएँ प्रकट होती है। पात्र की अंतरंग अभिव्यक्ति वाणी के माध्यम से ही उदघाटित होता है।

उपन्यास विधा के अंतर्गत कथोपकन पूर्ण: नियंत्रित चमत्कारयुक्त एवं लघु होना चाहिए। कहानी के आरंभ में जिज्ञासा और कौतुहल निर्माण करने की के लिए उपन्यासकार को कभी-कभी नाटकी संवादों की योजना भी बनानी पडती है। परिस्थिति एवं पात्रों को जोड़ने के लिए और आतंरिक भावों एवं मनोवृत्तियाँ के उद्‌घाटन के लिए संवाद तत्व (कथोपकथन) महत्वपूर्ण होता है। इसमे मन की मात्रा में औचित्य का होना अत्येत महत्वपूर्ण होता है। कभी- कभी बिना औचित्य में की गई रचना पाठका को ऊषा देने वाली भी सिद्ध हो सकती है, इसका ध्यान रचनाकार को रखना आवश्यक होता है।

भगवानदास मोरवाल जी ने अपनी रचना-शंकुतिकाओं में इस बात का बखूबी ध्यान रखा है। मुख्य कथा को अधिकाधिक रोचक तथा औचित्यपूर्ण बनाने के लिए मुख्य कथा के साथ उपकथानक की सृष्टि भी भली भाँती की है। जिससे पाठक वर्ग आकर्षित होता हुआ दिखाई देता है। यह बात सर्व विदित है कि उपकथाएँ मुख्य कथा को सहायक ही सिद्ध होती है। भगवानदास मोरवाल जी ने प्रेमचंद की परंपरा का संवाहन करते हुए गाँव देहात और कस्बाई जीवन के सूक्ष्म चित्रण में महारत हासिल की है। इसका उदाहरण हमें उपन्यास के अखतरी नामक पात्र की कथा द्वारा परिलक्षित होता है।

दुर्गा और अग्रसेन अब भगवती के परिवार के अंत्यत विश्वास पात्र एवं परामर्शक बन जाते हैं उस समय भगवती जब भी दुविधा या संकट में पड़ती है। तब दुर्गा की सलाह लेने जाती है। और दुर्गा भी उसकी दुविधा को क्षण भर में नष्ट कर देती है यह कथा दो महिलाओं के दृढविश्वास अतरंग मित्रता, प्रतिशील सोच, और जर्जर सामाजिक मान्यताओं में उलझे हुए क्षणों को मुक्त होने की कथा है।

4.5 शकुंतिका उपन्यास में चित्रित देशकाल वातावरण:

वरिष्ठ उपन्यासकार भगवानदास मोरवाल जी ने शंकुतिका उपन्यास की रचना करते समय इसका देशकाल तथा वातावरण शहरी सभ्यता से जोड़ा है। उपन्यास के आरंभ में ही लेखक कहते हैं कि, ''देश दूसरे शहरों की तरह यह कॉलोनी भी विविधता में एकता की मिसाल लिए छोटा-सा एक ऐसा टापू है, जहाँ सब एक दूसरे के सुख -दु:ख में बराबर के भागीदार होते हैं।''[१०] प्रस्तुत उपन्यास उत्तर आधुनिक समय की प्रस्तुती हुई है। जहाँ लेखक स्त्रियों कि स्वतंत्रता, अस्मिता और बहुआयामी व्यक्तित्व की पहचान कराते हुए। स्त्रियों को आज़ादी देने के पक्ष में पुरजोर समर्थन करते हैं।

वातावरण के अंतर्गत किसी भी देश या समाज की सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक परिस्थितियाँ, आचार-विचार, रहन- सहन, रीति-रिवाज तथा समाज की कुरितियों या विशेषताएँ आदि समझी जाती है। इस संदर्भ में बाबू गुलाबराय ने कहा है कि ''व्यक्ति के निर्माण में वातावरण का बहुत कुछ हात होता है। जिस प्रकार बिना अंगूठी के नगीना शोभा नहीं देता उसी प्रकार बिना वातावरण के पात्रों का व्यक्तित्व भी स्पष्ट नहीं होता है और घटनाक्रम समझने के लिए भी इसकी आवश्यकता होती है।''[११]

शंकुतिका यह उपन्यास आधुनिक काल की शहरी सभ्यता में विचरण करनेवाले दो पड़ोसियों के बीच का वातावरण व्यक्त करता है। आज सुशिक्षित, सुसंस्कृत सभ्य कहनेवाले शहरी लोग भी परंपरागत दृष्टिकोण को अपनाते हैं। जिनके घरों में लड़के पैदा होते हैं वहाँ जश्न मनाया जाता है और लडकियाँ पैदा होने पर मातम मनाया जाता है। इतना ही नहीं कई माताएँ लड़की पैदा होने पर उसे कूडे-कचरे में लावारिस की तरह फेंक देती है। कोई मानवतावादी उसे उठाकर अनाथाश्रम पहुँचा देते हैं। विज्ञान की गर्भजल परिक्षण का उपयोग लिंग पहचानने के लिए किया जा रहा है। अगर तीन मास का गर्भ होने से पहले गर्भ लड़की का है, यह पता चलने पर उसे गर्भ मे मार देना यह शहदी संस्कृति की परंपरा बनने लगी है। उसी का वर्णण प्रस्तुत उपन्यास मे किया है।

साथ उपन्यास के अंतर्गत गर्भजल परिक्षण में आयी पाबंदी का उल्लेख भी उपन्यास में किया गया है। कन्या भ्रूण हत्या कानूनन जुर्म होने के बाद भी धन के लालच में कुछ लोग यह घिनौना कृत्य आज भी कर रहे है। इसकी और लेखक ने संकेत किया है। परिवार के सुशिक्षित लोगों की यह जिम्मेदारी है कि समय पर अपने लोगों को समझाकर उन्हें सही मार्ग पर लाना है। शहरी सभ्यता में पला हुआ यह

परिवार पढ़ा-लिखा होकर भी परंपरागत संस्करों को आगे बढाते हुए उससे बाहर लाने के लिए ऐसे चरित्रों का निर्माण किया हैं जो अपने और आसपास का अनुभव पाकर परंपराओं में परिवर्तन लाने का प्रयास मन से करते हैं। इस उपन्यास का देशकाल वातावरण शहरी सभ्यता से जुड़ा हुआ दिखाई देता है। शहर में रहनेवाले लोग अलग-अलग जगहों से शहर में बसने आए हैं। उसमें विभिन्न जाति-धर्म के लोग रहते है। लेखक को हिंदी साहित्य की श्रेष्ठ कहानी पूस की रात की याद आती है, जिसमें उसका नायक हाल्क ठंड के कारण काप रहा है और करवटें बदल रहा है। शहरी सभ्यता में रहने वाले लोग इसलिए करवट बदलते हैं क्योंकि पड़ोस मे लड़का होने की खुशी में देररात डी.जे. का कर्णकर्कश भोंपू बज रहा है। जिसके कारण पड़ोसियों की नींद उजड जाती है। अन्याय को सहन करने की उन्हें आदत पड जाती है। लेकिन धनपतियों के डर से लोग कुछ नहीं कर पाते, इसी प्रकार का देशकाल वातावरण उपन्यास में चित्रित किया है। देशकाल वातावारण की दृष्टि से भी यह उपन्यास सफल बन पडा है इसमे आधुनिक शहरी मध्यवर्गीय परिवारों की वास्तविक स्थिति पर प्रकाश डाला गया है।

4.6 शकुंतिका उपन्यास की भाषा-शैली:

शकुंतिका उपन्यास की भाषा शैली अत्यंत सरल एवं प्रवाहमय दिखाई देती है। जिसके कारण शकुंतिका उपन्यास की पठनियता बढ जाती है. मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग उपन्यास को रोचक बना देता है। छोटे- छोटे वाक्य अर्थगर्भित तो हैं ही साथ ही साथ यह वाक्य बहुत रूप में लेखक को वैचारिकता को स्पष्ट भी करते है। उपन्यास की भाषा अभिधात्मक और आम जनजीवन के बीच से ली गई है। उपन्यास भाषा शैली सरस होने के कारण कोई भी व्यक्ति इसे आसानी से से समझ सकता है। लगभग-एक सौ बीस पृष्ठों में दो परिवारों की तीन-तीन पीढियों की कथा

को लेखक भगवानदास मोरवाल प्रभावी ढंग से उकेरा है। शुरू से अंत तक पाठक कही उबता नही, कथा उसे बोझिल नहीं लगती बल्कि जैसे-जैसे कथा आगे बढ़ती है, उत्तरोत्तर पाठक को अभिभूत आकृष्ठ करती चली जाती है।

प्रस्तुत उपन्यास में क्रम से उग्रसेन तथा दशरथ के परिवारों के माध्यम से इन दोनों स्थितियों को स्पष्ट किया गया है। इसमें पात्रानुकूल भाषा-शैली के दर्शन होते हैं। अरबी-फारसी शब्दों के साथ ही स्थान-स्थान पर अंमल, बॉडी लैंग्वेज, डीजे बोर्ड, एग्जाम, एलएलबी, परसेंट, टेस्ट जैसे अंग्रेजी शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। उपन्यास के संवाद छोटे तथा चुस्त है। भगवानदास मोरवाल जी ने इस उपन्यास के शब्दों का चयन बहुत ही सरल ढंग से कि है. उपन्यास का एक पृष्ट पढ़ने के बाद दूसरा छोड़ने को मन नही करता। रचना एकदम आकर्षक एवं दिलचस्प लगती है। यही भाषा की सार्थक उपलब्धि कही जा सकती है।

इसी प्रकार प्रस्तुत उपन्यास की भाषा शैली अत्यंत ही सशक्त और ओज गुण से संपन्न शुध्द खडी बोली है। भाषा से सरल तथा बोधगम्य तत्सम शब्दों का प्रयोग हुआ है। यत्र-तत्र मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रयोग से अभिव्यक्ति मे जान आ गई है। उपन्यास की भाषा परंपरागत समाज और आधुनिक समाज की है। पात्रों की योग्यता और मन:स्थिति का ध्यान रखा गया है। भाषा की मार्मिकता की अभिव्यक्ति में सहायक है। भाषा के बिंब, मुहावरें बड़े ताजें हैं। जैसे-खबर कपास में लगी आग की तरह फैल गई। मोबाईल ढूंडना सारा घर अबोलेसे से अपने बदलने बेटियों की आवाज से घर में रामचरित मानस की चौपाईयाँ घुल रही हैं और मस्जिद में आनेवाली अजान के बोल सुनाई देते हैं। देह झुलसा देनेवाली धूप अचानक चांदनी रात में बदल गई हो, मुंडेर से दूसरी गौरैया उड़ गई। कहीं-कहीं भाषा काव्यात्मक की हो गई। जिस संदर्भ में उपन्यास की कुछ पंक्तियाँ दृष्टव्य है, ''स्मृतियों का भी अपना

शास्त्र होता है जब-जब हमे लगता है कि वह धुंदली पड़ने लगी है, तभी वह किसी-न-किसी बहाने किसी रिचा या आयात की तरह चुपके से आकर हमारी स्मृतियों पर छाई धुंध को हटा फिर से ताजा हो जाती है।''[१२]

उपन्यास की सीमा है कि स्त्री जीवन के चित्र थोडे धुंधले हैं। स्त्री चरित्रों को और भी सशक्त बनाया जा सकता था। उपन्यास में सिर्फ लड़कियों की योग्यता की बात हुई है। यह धारणा भी एकांगी लगती है। स्त्री पात्रों के अन्तर दृढ की कमी दिखाई देती है। जिससे भाषा की स्वाभाविकता में बाँधा पहुँचती है।

4.7 शकुंतिका उपन्यास का उद्देश्यः

शकुंतिका, भगवानदास मोरवाल जी के द्वारा लिखा गया, वर्ष 2020 में प्रकाशित आठवाँ उपन्यास है। इस उपन्याय में इन्होंने दो परिवारों के माध्यम से एक सामाजिक संदेश देने का प्रयास किया है। भारतीय समाज में लड़कियों को लेकर एक दोहरी सोच पिछली कई शताब्दियों से चली आ रही है। उसको मुख्य आधार बनाकर उपन्यासकार ने कई अन्य सामाजिक सरोकारों से जुड़े प्रश्नों को की उपन्यास में सम्मिलित किया है।

शकुंतिका एक सामाजिक उपन्यास है। उपन्यास पढ़ने से यह आभास मिलता है कि उन्होंने किशोर वर्ग के छात्रों और युवाओं के लिए इस उपन्यास की रचना की है। जिससे कि वे अपने समाज के प्रति एक सकारात्मक नजरिया बना सकें। आज इस बात की सबसे ज्यादा जरूरत युवा वर्ग को है कि वह अपने सामाजिक जीवन की सच्चाईयों को महत्त्व को जाने और अनुशासन के महत्त्व को भी समझे। सामाजिक जीवन में अनुशासन हमेशा सकारात्मक परिणाम लाता है। लैंगिकता आदि को लेकर उन में एक स्वस्थ दृष्टिकोण का विकास हो और जीवन के अन्य मार्ग पर बढ़ने से

पहले वे परिवार, समाज जैसी संस्थाओं के महत्व को समज सके यह उपन्यास अपने इस उद्देश्य में निश्चित रूप से बेहद सफल रहा है।

निकर्षः

सारांश रूप में कहा जा सकता है कि पुरुषप्रधान व्यवस्था को प्रस्तुत उपन्यास कठघरे में खड़ा कर देता है। नारी की ओर देखने की दृष्टि पर प्रश्न चिन्ह लगाता है। नारी पहले मनुष्य है अत: उसकी ओर मनुष्य के रूप में देखना अनिवार्य है। सदियों से हमारे समाज मे नारी के प्रति गलत रवैया रखकर उसके विकास को बाधित किया गया। वर्तमान में जो परिवर्तन हुआ उसके चलते स्त्री अपनी काबिलियत सिध्द कर रही है। नारी के प्रति होनेवाले परंपरागत दृष्टिकोण को त्यागकर लड़का-लड़की भेद न करते हुए दोनों को समान अवसर देना नये युग की माँग है। नारी वर्तमान सदी में तो हमे विज्ञान और मानवता इन दोनों में मिलकर के हमारे बच्चों को संस्कारित करना होगा । हमारे घर में नारी केवल बहू के रूप में न आए तो बेटी के रूप में आनी चाहिए। ऐसी मानसिकता का निर्माण आवश्यक है। प्रस्तुत उपन्यास भारतीय समाज मे नारी के प्रति होनेवाले परंपरागत दृष्टिकोण का विरोध कर एक नये दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया गया है। शंकुतिका उपन्यास स्त्रियों के प्रति समाज में बनी अनेक धारणाओं का सिलसिलेवार खंडन करता है। यह उपन्यास लड़कियों को उनके मन मुताबिक जीवन जीने की आजादी देता है। उन्हें दीन हीन और शोषित दिखाने की बजाय उनके सशक्त व्यक्तित्त्व को सामने लाने का प्रयास करता है। नारी अबला नहीं बल्कि सबला है इस उक्ति को सत्य करते हुए उपन्यास की सभी लडकियाँ समाज के प्रति अपनी सोच बदलने को मजबूर कर देती हैं। पढ़-लिखकर लड़कियाँ न केवल खुद आत्मनिर्भर बन रही हैं बल्कि परिवार और समाज की हर संभव मदत भी कर रही है। महिलाओं के प्रति अनेक नकारात्मक धारणाएँ भले ही समाज में मौजूद हो परंतु इन सभी नकारात्मक धारणाओं को सकारात्मकता में परिवर्तित करना इस

उपन्यास की महत्त्वपूर्ण सार्थक उपलब्धि कही जा सकती है। लेखक नये समाज की स्थापना करना चाहते हैं, जहाँ सामाजिक समता हो।

संदर्भ सूची

1) मनस्मृति अध्याय

2) भगवानदास मोरवाल, शंकुतिका, राजकमल प्रकाशन, से, 2020 पृ. 18 नई-दिल्ली

3) श्लोक 56

4) वही, पृ. 54

5) वही, पृ. 55

6) वही, पृ. 21

7) वही, पृ, 55

8) वही, पृ. 21

9) वही, पृ. 85

10) वही पृ. 61

11) वही पृ. 61

12) वही, पृ. 5

13) बाबू गुलाबराय, काव्य के रूप. पृ.175

14) डॉ. अनिल सिंह, शंकुतिका : सृमन और दृष्टि, लोकभारती प्रकाशन प्रयागराज, 2021 पृ. 170

पाँचवा अध्याय
'शकुंतिका' में अभिव्यक्त नारी चेतना के विविध आयाम

भूमिका

5.1 नारी चेतना का परिवारिक परिदृष्य

5.2 नारी चेतना के सामाजिक आयाम

5.3 पारिवारिक विघटन की समस्या के परिदृष्य मे नारी चेतना

5.4 नारी की महत्ता- सामाजिक परिदृष्य में

5.5 स्त्री-पुरुष भेदाभेद नीति और हमारा समाज

5.6 बौद्धिक एवं आत्मनिर्भरता के आयाम और नारी चेतना

5.6:1 वैवाहिक परिदृष्य और नारी चेतना

5.7 सामाजिक रूढियाँ और नारी चेतना

निष्कर्ष:

पाँचवा अध्याय
'शकुंतिका' में अभिव्यक्त नारी चेतना के विविध आयाम

भूमिका:

हिन्दी उपन्यास साहित्य में समयानुसार परिवर्तन आता गया है। युगीन सत्य की अभिव्यक्ति ये भी साहित्य की विशेष कर उपन्यास विधा की प्रवृत्ति बन गयी है। परंतु, वह सत्य या यथार्थ को दर्शाने में कहाँ तक सफल हो सका है। यह जानना भी अत्यावश्यक ठहरता है।

भाग्यवती तथा दुर्गा की यह कहानी इन परीक्षाओं को सफलता से पार करती हुई दिखाई देती हैं। इस उपन्यास में दो परिवारों के माध्यम से समाज में बेटियों के महत्व को या उसकी जरूरत को प्रदर्शित किया गया।बेटी का जन्म होना यह दुःख का विषय क्यों कर हो सकता है। इसपर भगवानदास मोरवाल जी ने अपने मतों को स्पष्ट करते हुए उपन्यास मे अभिव्यक्त करते है। बेटियाँ कभी किसी का बुरा नहीं चाहती। लड़के तो एक घर के कुल-दीपक होते हैं किन्तु बेटियाँ दोनों कुलों का नाम रोशन करती है। फिर भी बेटी पैदा न होने के लिए लोग भगवान से प्रार्थना करतें है। मनुष्य की इसी प्रवृत्ति पर लेखक द्वारा किया गया यह प्रखर घनाघात ठहरती है।

भगवानदास मोरवाल जी का यह उपन्यास स्त्री सम्मान को सम्मानित करनेवाला है जिसमें पुरुष सत्ता से अभिशप्त स्त्री वर्ग अपनी नयी दिशाओं में उड़ान भरने की ललक रखती है। दुर्गा अपने स्वतंत्र विचारों से अपनी पड़ोसन भगवती को बेटा-बेटी के बीच उसकी द्वंद्वात्मक तथा संकुचित धारणा से मुक्त करने का प्रयास करती है। दुर्गा का मानना है कि बेटियाँ उन चिड़ियों जैसी होती है, जो आंगन में फुदकती, और चहकती रहती है। उग्रसेन, तथा दुर्गा जहाँ चार बेटों के दादा-दादी होने आनंद

ले रहे होते हैं, वहाँ भगवती अपनी दो पोतियों के बाद तीसरी आनेवाली सम्मान पुत्र सन्तान की चिन्ता में परेशान हो जाती है। उसकी यह परेशानी सार्थक रूप लेती है और तीसरी बार भी घर में बेटी ही पैदा होती है। समय को बदलते वक्त नही लगता। समय के साथ साथ आगे हालात भी बदलते देर नहीं लगती, आगे बेटों को लेकर नाज करने वाली दुर्गा स्वयं भगवती को बेटिया के महत्त्व स्पष्ट करते हुए समझाती है और भगवती अपनी तीसरी पोती को गले से लगा लेती है। इस तरह से यह उपन्यास मानव स्वभाव, मानव प्रवृत्ति को भी अभिव्यक्त करता है।

उपन्यास का शकुंतिका यह शीर्षक भी अत्यंत सार्थक होता दिखाई देता है। यह पूरे उपन्यास में जहाँ-तहाँ हमें इस उपन्यास शकुंतिका की चहल पहल सुनाई देती है। वही दुर्गा तथा उग्रसेन के बेटों वाले परिवार की हो चली भग्न अवस्था, दुर्दशा से भी उपन्यासकार पाठक को अवगत कराते चलते हैं।

भगवती, दशरथ की चारों पोतियाँ मेहनत के बल पर सिद्ध कर देती है कि बेटियाँ भी किसी बात में लड़कों से पीछे नहीं होती है बल्कि उनसे भी आगे निकल जाने की क्षमता रखती है। तब यह आदर्शवाद पाठक को भा जाता है।

इस प्रकार शकुंतिका यह उपन्यास प्रेमचंद के आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की धार का भी ठहरता है। इस में आधुनिक समाज के यथार्थ साथ आदर्श की ओर भी संकेत किया है। एक तरह से यह परंपरागत विचारों पर आधुनिक विचारों की विजय दिखाने वाला उपन्यास भी ठहरता है।

स्त्री स्वावलंबन तथा स्त्री चेतना के परिदृष्य में स्त्री शक्ति को भी अभिव्यक्ति देने में उपन्यासकार सफल गए हैं।

1:- मोरवाल भगवानदास शकुंतिका:

उस दृष्टि से शकुंतिका उपन्यास नारी चेतना का आध्यान ठहरता है जिसके आयामों पर वह अभ्यास में विवेचन किया जा रहा है। अध्ययन, विवेचन करना आवश्यक हो जाता है।

5.1:- नारी चेतना का पारिवारिक परिदृश्य:

शंकुतिका उपन्यास पारिवारिक रिश्तों की एक अद्भूत कहानी है। वर्तमान में विघटित होते पारिवारिक रिश्तों में जहाँ अलगाव की स्थितियाँ स्पष्ट रूप से दिखाई देती है वही भगवानदास मोरवालजीने उस उपन्यास के माध्यम से एक नयी चेतना एक नयी आशा जगाते हैं।

रचनाकार यह दर्शाने की कोशिश करते हैं कि हमारे भारतीय परिवारों में यह धारणा परंपरा से चली आ रही हैं। वे लड़के ही अपने माता-पिता एवं घर के बुजुर्गों की देखभाल करन वाले होते हैं। जो कितनी गलत एवं तथ्यहीन होती है। उस भ्रामक धारणा को शकुंतिका के माध्यम से छेद दिया है। परिवार विषय लड़कों की तथा लड़कियों की धारणाएं कितनी भिन्न और होती है इसको स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं- 'उग्रसेन के छोटे पुत्र अभय न दिन-पर-दिन अपने परिवार की बढ़ती उस शोहरत को समय रहते भाँप लिया। जैसे जैसे संयुक्त परिवार की आमदनी बढ़ने लगी, वैसे वैसे भाइयों की नीयत फर्क और अविश्वास बढ़ने लगा। उस अविश्वास का नतीजा यह हुआ कि दोनों एक-दूसरे से नज़र बचाकर साझे में चल रहे धंदे (व्यापार) में से अपना- अपना बैंक बैलेंस बढ़ाने में जुट गए।-अभय चुपचाप अपने परिवार के साथ नई-नई बनी एक सोसायटी में आ गया। ''--दुर्गा का कलेजा मुँह आने लगा।'[१] उसके विपरित भगवती- दशरथ के परिवार की स्थितियाँ बेहतर से बेहतरीन होने की दिशा में अग्रेशित है होती हैं। लेखक के शब्दों में- उग्रसेन का घर डंठलों से भरे

जंगल में बदल गया। लगने लगा घर में पुरुष नहीं, जगह-जगह पलूविहीत सूखे ठूंठ उग आए हैं। जब कि दूसरी तरफ दशरथ का घर पूरे दिन जैसे चिडियों के नाद से चहचहाता रहता है। कई बार दुर्गा मन-ही-मन आँगन से ये चहकती चिड़िया उड़ जाएँगी, तब उसका घर कैसे एक बियाबान में बदल जाएगा। सन्नाटे भरे सुने घर में भगवती-दशरथ को बरजती आवाज़ पर लोग दौड़ा हुआ आएगा? सहीं कहती थी उसकी अम्मा बेटियों का क्या, वे तो सूप में पडे पराए दानों की तरह होती है। जरा सी फटकार पर कि ये उड़कर कब और कहाँ चली जाती है, पता है ही नहीं चलता।''[2] किन्तु उसका केवल सपना भर रह जाता है और बिल्कुल इसी तरह की अवस्था का वह खुद शिकार हो जाती है।

पारिवारिक रिश्तों को संजोता हुआ यह उपन्यास प्रेम तथा संवेदना से भरा हुआ है। यहाँ संयुक्त परिवार के लाभों को भी मोरवाल जी ने स्पष्ट किया है। परिवार को साथ लेकर लिए गए फैसले सदैव व्यक्ति विशेष को लाभान्वित करते हैं। भगवती एक बच्ची को गोद लेने की सलाह देते हुए रूपेश और जयन्ती से कहती है ''देखो, लड़कर गोद लेने पर इस घर को भले ही वंश चलाने- वाला मिल जाएगा, पर इस घर को उन लडकियों को भाई कभी नही मिलेगा। वह इसलिए कि जिस दिन उसे इस बात का पता चलेगा कि सिया गार्गी और बुलबुल उसकी सगी बहनें नहीं है, उसी दिन उसकी निगाह फिर जाएगी सगे भाई-भाभी तो आजकल घर की बहन-बेटियों की को पूछती नहीं है, एक गोद लिया कैसे पूछेगा? कहीं ऐसा न हो कि मेरी इन चिरैयाओं के लिए इस घर की देहरी भी पराई हो जाए।''[३]

पारिवारिक विसंगतियों को स्पष्ट करने वाले कितने ही प्रसंग उपन्यास में आए है। लड़कियों वाले परिवारों की तथा परिवार को मानसिक अवस्था को भी लेखक ने व्यक्त किया है। घर के द्वार पर बजनेवाली बेल से ही भगवत-दशरथ के परिवार वाले

समझ जाते हैं कि द्वार पर बेल बजानेवाली सिया है, गार्गी है या बुलबुल है। सही सौद नहीं उनके घर आनेवाले अन्य मेहमान भी इसके अभ्यस्त हो गए होते हैं। किन्तु इस तरह की सौहाद की अवस्था दुर्गा घर नही होती। लेखक की भाषा ने इसका स्पष्टीकरण इस तरह से किया गया है अब तो दुर्गा को भगवती के घर की कॉल बेल के आवाज से पता चल जाता स्पष्टीकरण है। दरवाजे पर वह कौन होगा। उसकी आवाज से ही वह अनुमान लगा लेती है कि दरवाजे पर सिया खड़ी है या गार्गी या फिर बुलबुल, जिस दिन यह चिर-परिचित आवाज उसके कानों में नहीं पड़ती है, उस दिन उसका मन बेचैन हो उठता है। --- भगवती का ही घर क्यों? किसी काम से यदि कोई उनके घर आता-जाता रहता उसे भी इस अदृष्य कॉल का अन्दाजा हो जाता थी कि बाहर कौन है। इस दिन भी कुछ ऐसा ही हुआ। दोपहर को जैसे ही कॉल बेल बजी, दुर्गा अपने पास बैठे अपने पोते विभोर से बोली कि बेटा गेट खोलकर आऊ गार्गी आयी है। आश्चर्य की बात थी कि वास्तव में वह स्वयं गार्गी ही थी। विभोर से नहीं रहा गया और अपने दापने को पूछ ही शिक्षा पता चला कि धीरे बजाने वाली है? तब दुर्गा भगवती के मलिक से इस अर्धसत्य को लेखक भगवानदास मोरवालजी ने सामाजिक जीवन में जो देखा, भोगा उसे ही कलात्मक ढंग से अभिव्यक्त कर दिया है।

प्राचीन काल में हमारे देश में परिवार में स्त्री का महत्त्व पुरुषों से अधिक होता था। वैदिक काल में तो स्त्री को इतना महत्व था कि पिता के नाम की जगह माता का नाम जोड़कर पहचान बताई जाती थी। स्त्री को पुज्यनीय माना जाता था। 'यत्र नार्यस्तु पुज्यंते, रमत्ने तत्र देवता' ऐसा हमारे वेदों में कहा गया है।

अर्थात् जहाँ स्त्री को पूजा जाता है वहीं देवताओं का निवास होता है। जाहिर है कि वैदिक काल में स्त्री परिवार की प्रमुख था और परिवार में उसका स्वतंत्र बताई

जाती स्वाभिमानी व्यक्तित्व के रूप में प्रभाव रहता था। थेरियों की गाथाओं से भी ज्ञात होता है कि बुद्धकाल में भी स्त्री की पारिवारिक स्थिति अच्छी थी। इस संदर्भ में कितनी है। विदुशी उहंदी स्त्रियों के नाम गिनाए जा सकते हैं। धीरे धीरे उत्तर मध्यकाल के आते आते उसकी स्थिति में परिवर्तन आता दिखाई देता है। अब परिवार में उसका स्थान दोयम हो गया था। पुरुष ने परिवार के भरण- पोषण का उत्तर दायित्व अपने उपर ले लिया था। स्त्री ने अपने को गृहकाजों में बंदिस्त कर लिया था। आगे स्त्री को इस तरह से पारिवारिक बन्धनों में जकड़ा जाने लगा । शिक्षा एवं सार्वत्रिक उपक्रमों से बेदखल भी किया जाने लगा। आगे स्त्री केवल शोषिता के रूप में जीवन यापन करती दिखाई देने लगी थी। महान स्त्री सुधारकों, विमर्शकारों के प्रयासों से आधुनिक काल में स्त्रियों को पारिवारिक तथा सामाजिक कुरीतियों, कुप्रथाओं से मुक्ति मिल सकी। और धीरे धीरे वह पुरुष के बराबर की स्थिति में आ गई। आज न हर क्षेत्र में पुरुष के साथ कंधे से कंधा मिलाकर कार्य कर रही है।

'शकुंतिका' उपन्यास में लेखक परिवार मे बेटिया के महत्व को स्पष्ट किया जाता है। इसका कारण यह बताया जा सकता है कि बेटियाँ बेटों से कई अधिक कार्य कुलश सेवाव्रती स्नेहमयी तथा त्यागशील होती हैं। घर में इसी खेल का माहौल बनाए रखने में भी यह बेटियां सहयोग देती है। बिना बेटी को परिवार की अवस्था खण्डर की सी हो जाती है।

दशरथ भगवती का परिवार स्नेह एवं सामंजस्य से एक सूत्र में बंधा है। गोद ली गई पिहू को घर की बडी बेटियों ने सगी बहन की तरही रखा है वरना उसे उनसे भी उॅचा उठने के लिए जमीन भी देने का कार्य किया। दशरद को अपने पोतियों पर गर्व है लेखक के शब्दों में इन लडकियों को इस तरह से स्पष्ट किया गया है - ''पता नहीं इसी घर में वह कौनसा जस मिला हुआ है कि अभी तक तो लोग सिया

गार्गी और बुलबुल की तारिफ करते थे अब इस सूची में पिहू का नाम और जुड गया जिसने भी यह खबरें सुनी उसे अपनें कानों पर जैसे विश्वास नहीं हुआ। भगवती को अपने जैसे ही इस समाचार के बारे में पता चला, पलक झपकते ही वह पुरानी स्मृतियों में खो गई।''[४]

दशरथ-भगवती तीनों बेटियों की शादियाँ धुमधाम से करते हैं। सिया तथा गार्गी का दांपत्य जीवन खुशहाली में व्यतित होता है, किन्तु बुलबुल को उसका पति नरेंद्र तथा सास ससूर-द्वारा दहेज के लिए सताया जाने लगता है और बुलबुल का वैवाहिक जीवन खतरे में आता है किन्तु बडी बहने सिया तथा गार्गी उसे इस मुश्किल से उबरती है, सिया स्वयं वकील है। वह दूसरे वकील के द्वारा बुलबुल के ससूरालवालों को नोटिस भेज देती है। जिससे बुलबुल को बेखबर भी रखा जाता है। नोटिस मिलने पर नरेन्द्र उसके परिवार में एक ही खलबली मच जाती है। ''उस नोटीस में दर्ज धाराओं को देखकर किसी की समझ में नहीं आ रहा है कि एका एक यह बस कैसे हुआ मगर जैसे ही मालुम हुआ की इस नोटीस को किसके इशारे पर भिजवाया गया है। एका एक पूरे ससुरालवालों के बुलबुल के प्रति के तेवर ही बदल गए। अब इसका एक समाधान है कि किसी तरह बुलबुल को मनाया जाए।''[५] हार कर नरेंद्र बुलबुल के घर जाता है और सभी और सभी से माफी माँगता है। साथ ही यह भी वादा करता है कि वो कभी बुलबुल को तकलिफ नही होने देगा। इस तरह से परिवार पर आनेवाले हर संकट को बेंटों से कई अधिक अच्छे तरिकें से यह बेटियां सुलझती दिखती है।

वर्तमान में हम देखते है की बेटे माँ-बाप की संपत्ति पर अपना अधिकार तो जमा लेते हैं किंतु जब अपने माता-पिता की साथ रखने की बात आती है तो पिछे हट जाते हैं। संयुक्त परिवारों में कुछ इसी तरह के हालात दिखाई देते हैं। इस

उपन्यास में दुर्गा-उग्रसेन के परिवार की यही हालत हो जाती है तीन-तीन बेटों वाले माँ-बाप होने पर भी उन्हे कोई अपने पास नही रखना चाहता बल्कि जिस घर में माँ-बाप बरसो से रह रहे हैं जिसे बडे कष्ट से बनाया गया था उस घर को भी बेचने की ठान लेते हैं। इस तरह की बेटोंवाले परिवार की अवस्था का चित्रण मोरवाल जी करते हैं। वही दूसरी ओर बेटियों वाले परिवार की स्थिति का भी चित्रण करते हैं जिसमे दोनों परिवार के अंतर को स्पष्ट रूप से जान सकते है। दशरथ-भगवती कितने भाग्यशाली हैं। उन्हे सरआँखों पर रखती है। पीहू तो अपने दादा-दादी के नाम ट्रस्ट निकालती है। भरपूर फंड देती है। पारिवारिक दायित्व के साथ साथ यह बेटियाँ अपना सामाजिक दायित्व निभाने में भी आगे आती है। अपनी पोतियों की उदारता से दादा दादी फुले नहीं समाते हैं।

स्त्री विमर्श की दिशा में दशरथ-भगवती का परिवार आदर्श को प्रतिष्ठीत करता है और करता है। पुरानी पारिवारिक मान्यताओं का खंडन करता है। हमारे यहाँ वंश को बढाने के लिऐ बेटों की दिया गया आवश्यकता है। पुत्र के के द्वारा मुखाग्नि और पिण्डदान करने पर ही माता-पिता को मुक्ति मिलती है। ऐसी परंपरा चली आ रही है। जिसका खंडन इस परिवार ने किया है। जिस पर दुर्गा भगवती से कहती है, ''सून, भगवती, बुरा मत मानियो! इस वंश को बढ़ाने की भूख ने हमारी बेटियों की दुर्गति की हुई है।''[६]

उग्रसेन को सबसे ज्यादा हैरानी तो इस बात पर होती है कि उनके बेटों को ही, अपने माँ- बाप पर भरोसा नहीं है। उनके मरने के बाद आखिर सब कुछ उनकी सन्तान का ही तो है। भला वे इस जमीन-जायदाद को कौन सा सिर पर रखकर ले जाने वाले हैं। अपने बहू बेटों की जायजाद के बटवारे कि बातों से उग्रसेन व्यथित हो जाते हैं। वंश बढ़ाने की यह परंपरा कितनी व्यर्थ इसका पता उन्हे चलता है।

5.2 नारी चेतना का सामाजिक आयाम और शकुंतिकाः

समसामयिक समाज जीवन में स्त्री परिवार समाज और राष्ट्र के उत्थान में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रही है। सामाजिक व्यवस्था में आने वाले परिवर्तनों से ही यह संभव हो सका है। सामाजिक परिप्रेक्ष्य में नारी चेतना की दिशा में शकुंतिका उपन्यास को काफी महत्त्व प्राप्त है। इससे शिक्षा, स्त्री-पुरूष समानता, विवाह विषयक बदलते प्रतिमान, सामाजिक रूढ़ियाँ तथा परम्पराओं आदि विभिन्न विषयों समाज सापेक्ष किया गया है।

प्रस्तुत उपन्यास में स्त्री जीवन के अनेक पहलओं एवं स्त्री सशक्तिरण के मुद्दों को उठाया गया है। हमारे समाज वालों की कमी नही हैं कि बेटा हीरा होता है। उपन्यास के पात्र उग्रसेन भी ऐसे ही व्यक्ति थे जो अपने पोतों को रतन हिरा समझते हैं। लेकिन कुछ सालों के बाद ये पुत्र-रत्न केवल परिवारवालों को बल्कि मोहल्लेवालों के नाक में दम करके छोड़ते हैं। मोहल्ले में मार-पीट करना, लड़कियों को छेड़ना तथा ऐसे कारनामों से इस उग्रसेन का परिवार एक सामाजिक समस्या के रूप में उभरता है। इस परिवार की ओर देखने का सामाजिक नजरिया ही बदल जाता है। जिन्हें उग्रसेन हीरा समझते थे वे पोते मिठल्ले होकर एक एक करके घर से निकल जाते हैं। माता पिता को अकेला उनके हालातों पर छोड़ जाने वाली इस प्रवृत्ति को लेखक ने विरोध किया है। और समाज को यह बताना चाहा है कि बेट ने अपने मां-बाप के प्रति के अपने कर्तव्य को निभाना चाहिए एक स्वस्थ परिवार ही सामाजिक स्वास्थ्य बरकरार रखने में मददगार साबित हो सकता है। लेखक चाहते हैं कि वर्तमान के युवाओं को आज शिक्षा के साथ-साथ अच्छे संस्कारों से भी अवगत होना आवश्यक है।

5.3:- पारिवारिक विघटनः-

सामाजिक विघटन वर्तमान समाज को लगा एक रोग है। जिसके दुष्परिणामों से उपन्यास कारने समाज के सामने रखने का प्रयास किया है। एक स्वस्थ समाज के लिए की पारिवारीक स्वास्थ की जरूरत को प्राथमिकता दी गई है। पारिवारिक विघटन का मुख्य कारण घर जमीन जायजाद होता है। घर के बेटे आपसी खिचा तानी से घिरकर पारिवारिक विघटन का कारण बनते हैं। इस तरह की खींचातान मे उग्रसेन दुर्गा का संयुक्त और वैभवशाली परिवार एक पल में बिखर जाता है। वृद्ध दम्पति उग्रसेन और दुर्गा अकेले पड़ जाते हैं। तीन तीन बेटों और तीन-तीन पोतों वाले होकर भी उनको एकाकी जीवन जीने की तोहमत आती है।

दूसरी ओर उनके ही पड़ोसी दशरथ तथा भगवती का परिवार है। जिसमें उनके तीनों बेटों को केवल लड़कियाँ ही है। घर मे तीन-तीन, पोतियाँ होने के बावजूद भी वे अपने छोटे लड़के के लिए और एक बेटी अनाथालय से गोद लेकर आते हैं। इस तरह से अब दुशरथ भगवती दांपत्य चार-चार पोतियों वाले दादा-दादी हो जाते हैं। यदि वे बेटी को गोद लेने की बजाय बेटा गोद लेते तो क्या हो यह प्रश्न भी लेखक पाठकों के समक्ष रखते हैं। अपने पात्रों के ही माध्यम से इस प्रश्न हल भी पाठकों को देते हैं। जब भगवती अपने छोटे पुत्र के लिए अनाथालय से बेटा गोद लेना चाहती है तब बेटो-पोतों वाली दुर्गा उसे रोकते हुए कहती है ‘‘और सुन, किसी लड़के-बड़के के चक्कर में पत पड़ना। लड़को का सुख में कितना भोग रहीं हूँ, इसे मैं ही जानती हूँ। अपनी पोतियों को देख रही है न। जहाँ तीन है, वहाँ चौथी भी सही। मेरा बस चले न भगवती तो मैं अपने घर में आज ही लड़की ले आऊ-मानलो तुमने लडके को गोद ले लिया तो उसकी क्या गारंटी है कि वह ते इन तेरी सगी बहनों का दर्जा दे ही देगा। कही ऐसा न हो की सारी जायजाद पर कब्जा कर बैठे और तेरी ये

पोतियाँ यहाँ के रूखो के लिए भी तरस जाएँ। इस बारे में तरह अच्छी तरह से सोच लेना।''[७] सामाजिक परिवेश में एक परिवार के स्वास्थ्य होने का एक स्पष्ट नजरिया इन दोनों स्त्रियो के संवादों से लेखक स्पष्ट करना चाहते हैं। तीन-तीन पोतियोंवाले इस घर में यदि में लड़का लेकर आते हैं तो तो उसके दुष्पारणाम क्या हो सकता है उससे दुर्गा भगवती को जागृत कराती है। और उसका यह सुझाव कारगर साबित होता है। जब गोद ली गई पीहू अव्वल दर्ज में पास होकर विदेश में पढ़ने के लिए अपनी काबीलयत साबित करती है तब अनायास- ही भगवती को उचीत समय पर उचीत सुझाव देनेवाली दुर्गा की याद आ जाती है। वह सोचती है यदि दुर्गा जीवित होती तो उसे कितनी खुशी होती। यदि उसने समय पर यह सुझाव नही दिया होता और भगवती किसी लड़के को गोद लेती तो उस परिवार को किन-किन समस्याओं का सामना करना पड़ता इसको स्पष्ट करने हेतु मोरवाल जी ने दुर्गा-उग्रसेन के परिवार का हवाला दिया है।

हमारे समाज में आज भी यह अवस्था दिखाई देती है कि बेटे के जन्मने पर जल्ोष के साथ आनंद मनाया जाता है किन्तु पुत्री

सफेद का पेड-निर्जन स्थान का सुखा हुआ पेड का जन्म होने पर उस परिवार में उदासी छाजाती है। ऐसे परिवारजनों के लिए यह उपन्यास साक्षात भगवान गीता का रूप घर लेता है।

5.4 स्त्री की महत्ता का सामाजिक परिदृष्यः

प्राचीन काल में हमारे समाज में स्त्री का महत्त्व पुरुष से कहीं अधिक था धर्मद्रष्टा मनू ने नारी को श्रद्धामयी और पुजनीय मानते हुए उसके महत्व का प्रतिपादन किया है।

शकुंतिका उपन्यास में स्त्री पात्रों की अपेक्षा श्रेष्ठता भी प्रदान कर दी गई है। कथाक्रम में दुर्गा के बेटे तथा पोते और भगवती तीन चार पोतियों से हीन एवं गैरजिम्मेदार ठहराए गए हैं। जिस प्रकार चिड़ियों के चहकने से घर आँगन की शोभा बढ़ती है वैसे ही लड़कियां घर की शोभा होती है। वह अपने सभी परिवार के सदस्यों को अपनी चंचलता, सेवा, स्नेह से मोह लेती है। उपन्यासकार ने बिना बेटियों वाले घर की तुलना उस सफेद के पेड से की है जिस पर परिन्दे भी आकर नहीं बैठते।

उपन्यास के पात्र दुर्गा भगवती की पोतियों को देखकर प्रसन्नता पूर्वक कहती है - ''कई बार तो सामने चिलुपो सुनकर ऐसा लगता है जैसे किसी पेड़ की टहनियों पर बैठी गौरयाँ चहक रही है। जब देखो दोनों पोतियाँ उनके पीछे झटकती-भटकती रहती है। इधर हमारे सपूत पोतें हैं। एक गिलास पानी के लिए भी कितनी ही बार चिल्लाना पड़ता है।''[८]

वात्सल्य, स्नेह, कोमलता, दया, मानविता के आधार पर यह सृष्टि का निर्माण बलबूते पर आज भी वह अपना अस्तित्व बरकरार करके रह सकी है। यह सारे गुण स्त्री को जन्मत प्राप्त रहते हैं। मानो इस प्रकृति का प्रतीक ही होती है। स्त्री दशरथ-भगवती की पोतियों के माध्यम से लेखक ने प्रकृति से स्त्रीत्व को जोड़कर एक स्वस्थ समाजव्यवस्था की है।

5. 5 स्त्री-पुरुष भेद की नीति और समाजः

वर्तमान युगीन स्त्री अपने हकों एवं अधिकारों के प्रति सजग हो गई है। अब वह पुरुषों के बराबर का कानूनन स्थान प्राप्त कर सकने की दिशा में सफल हो गई है।

किन्तु भारतीय समाज में परम्परा से चली आ रही स्त्री-पुरुष असमानता आज भी समाप्त नही हुई। यहाँ की पुरूष पधान संस्कृति में पुरुष की तुलना मे स्त्री दोयम

ही समझा जाता रहा है। लैंगिक भेदाभेद के उसी मुद्दे को मोरवाल जी प्रस्तुत उपन्यास में प्रस्तुत करते हैं और स्त्री चेतना के अगले मार्गक्रमण को आगे बढ़ाने में मार्गदर्शक के रूप में स्वयं को इस उपन्यास के जरिए पेश करते हैं।

हमारे समाज में आज भी ऐसे कितने ही परिवार है जहाँ स्त्री की उपेक्षा होती है। बिहार प्रांत में तो स्त्री भ्रूण को पैदा होते ही उसके मुँह में मुट्ठी भर नमक डालकर उसे खत्म कर देने वाली वारदाते सुनने में आती है। कही लिंग परिक्षण करवाकर स्त्री भ्रूण को गर्भ में ही मार गिराया जाता है कभी बेटी पैदा होती भी है तो उसे बेच दिया जाता है। कभी उसे किसी कचरे के डिब्बों में फेंक दिया जाता है। इस तरह की वारदातों से हम अच्छी तरह से परिचित हैं क्योंकि इन घटनाओं को हम आए दिन अखबारों, टिवी चैनलों अक्सर देखते-सुनते रहतें पर हैं। भगवानदास मोरवाल इस सामाजिक अवस्था में परिवर्तन लाना चाहते हैं।

पुरुष प्रधान संस्कृति में स्त्री को अनेक अर्थों से वंचित कर दिया गया है। उन्हे उनके हक्कों अधिकारों से जान-समझकर दूर रखा गया है। लड़के और लड़की के बीच भेदभाव को लेखक ने उपन्यास के प्रारंभ मे ही रेखांकित कर दिया है। भगवती की दो पोतियाँ हैं और बहू रेवती गर्भवती है। उसके गर्भ के सम्बन्ध में भगवती अपनी पड़ोसन दुर्गा से चींता के स्वर में कहती है, ''अगर इसबार भी लड़का नहीं हुआ न, हम तो जीते जी मर जाएँगे। पहले से दो-दो लड़कियों को देखकर मेरे तो जाते हात पाव फुल जाते हैं।''[९] भगवती के इस व्यक्तव्य से हमारी सामाजिक स्थिति का जायजा लिय जा सकता है। अपने वंश की वृद्धि हेतु उसे घर में लड़के का जन्म होना अनिवार्य लगता है।

हमारे समाज में पुरुष भ्रूण जन्म लेने पर आनंदोत्सव मनाया जाता है किन्तु वहीं स्त्री भ्रूण के जन्म ने पर उदासीनता छा जाती है। एक स्त्री अपने उदर से स्त्री

जन्म देने के प्रति औदासिन्य भाव रखती है। गर्भवती स्त्री की गर्भ-जल, चिकित्सा करवाकर कोख के स्त्री भ्रूण को जबरन गिरा दिया जाता है। दादी भगवती भी दुर्गा, के सुझाव यह परिक्षण करवाना चाहती है और आनेवाली समस्या से निजात पाना चाहती है। और वंशवृद्धि के लिए लड़का होने की अपेक्षा करती है। बहूँ के गर्भ में लड़का है या लड़की इसे जानने हेतू भगवती डॉक्टर से बात भी करती है किन्तु यह गैर कानूनी होने के कारण डॉक्टर उसे इस तरह परिक्षण करने से इनकार कर देते हैं। इन यातनाओं को उनकी बहू रेवती मौन साधकर सहन करती रहती है। आज बदलते परिवेश? शिक्षा और आत्मनिर्भरता के बढ़ते अवसरों के कारण स्त्री पुराने उसूलों नियमों को तोड़ सकने में सक्षम हो रही है। उसने प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से सामाजिक चुनौति यों को स्वीकार भी कर लिया है। साथ ही अपने लिए समानता की मांग भी करने लगी है।

उपन्यासकार इस लैगिंक विभेदीकरण के दुष्परिणामों से समाज को सावधान करते हैं। वे स्वयं इस तरह के परिक्षण का अस्विकार करते हैं। साहित्य समाज और राष्ट्र की विचारधारा को तक बदल सकने की समता अतः उक्त उपन्यास में भगवानदास मोरवाल जी स्त्री पुरुष समानता की परपंरागत चली आयी दूरीयों को मिटाने की भरसक कोशिश करते हुए नज़र आतें है।

5.6 स्त्री के बौद्धिक एवं आत्मनिर्भरता के आयाम और स्त्रीः

स्त्री के द्वारा सामाजिक चुनौतियों को स्वीकार करने का लक्ष्य बहुआयामी ऐसा हो रहा है। उसने एक और नैतिकता और विवाह के प्रचलित मानदण्डों और रूढियों को तोड़ने का साहस किया है वही दूसरी और जीवन की अनिवार्य स्थितियों को स्वीकारते हुए अपने बौद्धिक विकास का महत्त्वपूर्ण मानकर उस प्राथमिकता दी है।

वैसे देखा जाए तो वर्तमान समाज में हर क्षेत्र में स्त्री ने अपना अस्तित्व स्थापित कर लिया है। साथ ही अपनी प्रतिभा एवं अस्मिता का भी परिचय दिया है।

आज हम डॉक्टर, इंजिनियर, वकिल, पुलिस, सीइओ् के रूप में कार्य करने वाली कितनी है। स्त्रियों को हमारे इर्द-गीर्द देख सकते हैं। शकुंतिका के एक महत्वपूर्ण पात्र दशरथ का मानना है कि व्यक्ति की सफलता में उसकी प्रतिभा तथा मेहनत का हाथ होता है। इसलिए वह अपनी पोती गार्गी को अपने आप पर भरोसा रखने की सलाह देते हैं।

स्त्री के बौद्धिक एवं व्यक्तित्त्व विकास के लिए सरकार द्वारा अनेकों योजनाए प्रदान कर रही है। साथ ही सामाजिक-पारिवारिक सहयोग की उतनी ही जरूरत होती है। उपन्यास की पात्राएँ-सिया, गार्गी,बुलबुल तथा पिहू को पढ़ाई में दादा-दादी और उनके माता पिता एवं पास पड़ोसियों द्वारा प्रोत्साहन मिलता है। सिया एल।एल।बी कर रही हैं तो गार्गी डॉक्टरी करने की तैयारियों में जुट गई है। पीहू को भी विदेश में अध्ययन करने का मौका मिलता है।। उसे ऑस्ट्रेलिया में पढने का सुनहरा अवसर मिलने पर सारा परिवार खुशी से झूम उठता है।

पढ़ाई लिखाई के उच्च मानदण्डों को हथियाने के बावजूद भी इन लडकियों मे अपने दादा-दादी, माता पिता तथा परिवार के अन्य सदस्यों के प्रति प्रेम, आदर के भाव बराबर बने रहते हैं।। लेखक इस बात को समाजोन्मुख करना चाहते हैं कि यदि स्त्री को उचित अवसर प्रदान किए जाए तो वह हर क्षेत्र में अपनी प्रतिभा से उच्चतम् स्थान प्राप्त कर सकती है।

परिवार तथा समाज के लिए कुछ करने की इच्छा से लड़कियाँ लड़कों भी अधिक आगे होती है किन्तु उम्र के एक पर जा मुकाम पर आते ही उसे शादी के बन्धनों में अड़का कर बंदिस्त कर दिया जाता है। अपने इस तरह के सपनों को को

टूटकर बिखरता देखनेवाली लड़कियों की हमारे समाज में कमी नहीं है। यदि उन्हें सिया, गार्गी, पीहू का तरह अवसर मिला होता तो समाज की ये पत्नीयाँ बनी बहू बनी लड़किया परिवार की सेवा करने की अपेक्षा देश की सेवा से जुड़कर बड़े ओहदों पर कार्यरत होती हैं। अत: स्त्रियों को उचित समय पर उचित अवसर यदी दिए जाए तो वे हर क्षेत्र बसे में अपनी प्रतिभा सिद्ध कर सकती है। यह संदेश उपन्यासकार ने प्रस्तुत उपन्यास के माध्यम से समाज को दिया है।

उपन्यास की स्त्री पात्र सिया के शादी को लेकर जब घर में चर्चा होने लगती है। तब वह शादी करने की अपेक्षा आगे की पढ़ाई, करने में अपनी रुची दर्शाती है। अपनी पोती की इस महत्वाकांक्षा को देखकर दशरथ भी उसे पढ़ने की इजाजत देकर उसकी भावनाओं सम्मान करते है। वे कहते है - ''मेरा तो यह मानना है कि इस देश में ज्यादातर बेटियों के सपने ये शादी-विवाह की रस्मे ही कुचल देती है। --जा बेटी जा, जो तेरा मन करें, पहले उसे कर ले।''[१०] अपने दादा से अनुमति मिलने पर सिया उन्मुक्त होकर मानो गगन में विचरण करने लगी थी। परिंदे के माफिक पंख फड़फड़ाकर उड़ने लगी। उसके जाने के बाद भगवती चिन्तित स्वर मे बोली, यह बात आपका सही है, पर मेरी चिन्ता यह है कि खुदा-न-खास्ता इम्तिहान में पास हो गई और किस्मत से जज़ बन गई तो इसके बराबर का लड़का दूढन मुश्किल हो जाएगा। इस तरह से उचित अवसर दिए जाने पर लडकियाँ कहा तक पहुँच सकती है। इसे लेखक ने स्पष्ट किया है। यहाँ लड़कियों की बौद्धिकता एवं मानसिकता की असीमत्ता को देखा जा सकता है।

5.6.1:- विवाह के परिप्रेक्ष्य में नारी चेतना:

आधुनिक युग में अब स्त्री को चार दिवारी में कैद कर नही रखा जा सकता। शिक्षा, नोकरी एवं जीविकोपार्जन में अब स्त्रीने घर की दहलीज बांधकर रख दिया है।

अब यह बात हम स्पष्ट कह सकते हैं कि स्त्रीविषयक परम्परागत मूल्यों में यथोचित परिवर्तन आ गया है। वह आत्म निर्भर होकर अपने विवाह विषयक निर्णय स्वयं लेने की क्षमता प्राप्त हम स्पष्ट कर सकी है। प्रेमविवाह, अन्तरजातिय विवाह भी करने लगी है। अब वह अपने जीवन विषयक निर्णय स्वयं महत्त्व दे रही है। अब माता पिता द्वारा किसी भी वर को उन पर लादना उसे असहय होता जा रहा है। इससे वह पूर्णत: मुक्ति पाना चाहती है। किन्तु विवाह एक ऐसा संस्कार है जिसके लिए एक ना एक दिन हमे मुक्ति पाना प्रस्तुत ही होता है फिर वह प्रेम विवाह हो यह घरवालों की मान्यता से किया गया हो। माता-पिता को अपने बेटियों के प्रति का यह होना उत्तरदायित्व निभाना ही होता है। कभीकभी जबरन लड़की को ब्याह दिया जाता है और बाद मे उसके परिणामों को लडकियों को हो भुगतना पड़ता है। किन्तु सिया यह सब नही चाहती वह पहले अपने पैरों पर खडा होना चाहती है। आत्मनिर्भर होना चाहती है। भगवती को यह उचित नही लगता और उसने सिया से स्पष्ट शब्दों में कह दिया- इक्कीस बाइस साल की होने जा रही है और कह रही है कि अभी मेरी उम्र ही क्या है। उस उम्र मे तो मे तेरे बाप और की माँ बन गई इससे ज्यादा गुंजाइश नहीं है। हमारे पास भगवत्ती को समझाते हुए दशरथ कहते है कि, ''बेटियाँ जो कुछ कर लेती है, माँ-बाप के घर ही कर लेती है। शादी-ब्याह के बाद कुछ नहीं होता मेरा तो यह मानना है कि देश में ज्यादातर बेटियाँ के सपने यह शादी-ब्याह से ही कुचल दिए जाते हैं। अगर इसका मन कर रहा इसे करने दे इसके मन की।''[११] दशरथ भगवती और सिया के संवादों में तथा आधुनिकता का संघर्ष स्पष्ट देखा जा सकता है। भगवती परंपराओं को कुछ दो तक तो तोड़ती दिखाई देती। किन्तु वह कुछ अंश में परंपराओं से जकडी रहती है। दशरथ को अपने पोती पर विश्वास है और वे सिया को सभी अवसर प्रदान करने से पीछे नही हटते जिनकी सिया जरूरत होती है।

इस अवसर सोना करने वाली सिया आगे वकील होने के बाद उसी के कोर्ट में जज रहनेवाले तपन से बिना दहेज के शादी कर लेती है। उधर गार्गी भी उसके पसंद के पंजाबी लड़के से शादी कर लेती है। 'विवाह के प्रति नारी का दृष्टिकोन बदल रहा है। अब वर विवाह को बन्धन के रूप में स्वीकार न कर उसकी महत्ता को समझने का प्रयास कर रही है।'[१२]

इस सामाजिक सत्य को लेखक स्पष्ट करते हैं। उनका यह विचार है कि समाज की इन वैवाहिक धारणाओं को बदलने की सामाजिक अवस्था को तथा सामाजिक मनोभूमि को लेखक व्यक्त करते हैं। साथ ही दहेज प्रथा का भी विरोध करते हैं। बुलबुल का पति और उसके परिवारवाले जब बुलबुल की प्रताडना करते हैं तब बड़ी बहन सिया बुलबुल के बिखरते संसार को सवारने में संचायक है। यह केवल शिक्षा से ही संभव हो सका है, ऐसा लेखक का मानना हैं। शिक्षा से अब यह स्त्रियाँ आत्मविश्वासी और स्वयंपूर्ण हो गयी है और अच्छे-बूरे की उन्हें पहचान है। अत: वर्तमान मे स्त्री अपने विवाह विषयक निर्णय लेने में पर्याप्त सक्षम दिखाई दे रही है।

5.7 सामाजिक रूढ़ियाँ और नारी चेतना:

प्रस्तुत उपन्यास में सामाजिक रूढियों तथा उनसे उत्पन्न स्त्री विषयक समस्याओं को उचित प्रसंगों से लेखक ने प्रस्तुत किया है। सामाजिक रूढी, परंपरा के कारण नारी का जीवन पिंजरे में कैद तोते के समान हो गया था । परिवार मे पुत्र के पैदा होने पर खुशियों की लहर दौड उठती है। उग्रसेन के छोटे बेटे से अभय को पुत्र रत्न की प्राप्ति होने पर खुशिया मनाई जाती है और इसका इजहार थाली बजाकर किया जाता है। उग्रसेन तथा दुर्गा चार-चार पोतों को पाकर बेहद खुश है। इस खुशी का सांझा मुहल्लेभर के लोग करते हैं। पोते के नामकरण के समय कुआ-पूजन की विधी भी होती है जिसका के अन्य आयोजन करते हैं, सिया सोचती है कि उनके यहाँ

बहनों के जन्मदिन पर ऐसा उत्सव क्यों नहीं मनाया जाता है। आज भी परिवार में पुत्री के जन्म पर शोक मनाया जाता है। भगवती तीसरी पोती को के जन्म पर निराशा में डूब जाती है। व्यथित होकर वह कहती है, ''हम तो जीते जी मर गए। दो ही कम थी जो एक और आ गयी।''[१३] हमारे समाज मे आज भी वंश बढ़ाने की भूख के कारण लड़कियों की दुर्गती हो रही है। इन रूढियों तथा परंपराओं को बदलने की सामाजिकता निर्माण करने की दिशा में लेखक प्रयास करते है उनका मानना है कि ''समाज को सही रास्ता दिखाने का जोखीम अर्थात रिस्क ले कोण? क्योंकि अवसर मिलने पर हम जोखिम अर्थात सब चाहे शिक्षित हो या अशिक्षित, अमीर हो या गरीब, इस संस्कृति पोषक उदारता का लाभ उठाने से नहीं चूकते हैं।''[१४] फिर भी कोशीश तो आवश्य की जा सकती है। गार्गी डॉक्टरी की परीक्षा में पास होने के लिए शिवालय पर जल अर्पण करती है। लेकिन जब बिल्ली रास्ते में आ जाती है, तो उसे अपशकुन मानती है। इसी के साथ उसका आत्मविश्वास डगमगा जाता है। इस तरह की रूढिगत धारणांओं के कारण व्यक्ति का आत्मविश्वास कम होकर वह कमजोर हो जाता है। दशरथ, अपनी पोती गार्गी का मनोबल बढाने हेतु कहते हैं ये सब टोटके आदमी ने खुद बनाएँ हैं। इनसे कुछ नहीं होता। बिना मतलब इन टोने-टोटकों के चक्कर में मत पड़ो।

कुआँ पूजन परंपरा मुख्यत: लडका होने के बाद है। इसके जन्मदिवस पर आयोजित करनेवाला एक धार्मिक संस्कार होता है। इस बार भगवती की दोनों बहुओं की भी इच्छा होती है कि उनके यहाँ भी कुँआ पूजन का संस्कार संपन्न हो जबकी उनके यहाँ कभी लडके का जन्म नही हुआ था। इन सड़ी गली रुढियों को बदलने की पहल तो सभी करते हुए दिखाई देते हैं। किन्तु सामने कोई नहीं आत। पहली बार समाज की इस परंपरा को तोड़ने के लिए दशरथ भगवती का परिवार सामने आता है। वे पीहू का जन्मदिवस धूमधाम से मनाते हैं और बेटी के साथ वे कुआ पूजन था की

विधी भी संपन्न कर देते हैं। दूसरे दिन की अखबारों इस विषय में सूर्ख़ियाँ छप कर आती है। अब लड़के के जन्मदिन के ही नहीं बल्कि लड़की के जन्मदिवस पर भी कुंआ करने की दिशा में उठाया गया। इस परिवार का यह सराहनीय प्रयास होता है। शिक्षा का प्रचार-प्रसार के तथा संविधान से प्राप्त अधिकारों का कारण आज स्त्री में स्व की अनुभूति हो गई है। वह माँ, बहन, बेटी, पत्नी होने से पहले एक मनुष्य स्वतंत्र मनुष्य के रूप में स्वयं को स्थापित कर सकने में कुछ हदो तक क्यों नही सफल हो रही है। इस विषय में लेखक का मानना है कि आज नारी अपने अस्तित्व की सुरक्षा के लिए परम्परागत मूल्यों से लड़ रही है। वह स्वयं नौकरी, व्यवसाय, आदि करके अपने पैरों पर खड़ी होना चाहती है। आर्थिक स्वावलंबन आने से उसमें अब इन सड़ी-गली रुढियों के विरोध में लड़ने की सक्षमता भी आने लगी है।

निष्कर्ष:

वर्तमान समाज में नारी स्वतंत्रता और उसके अधिकार के बारे विमर्श के तौर पर होने लगी है। साथ ही नारी शोषण एक सामान्य सी बात होकर रह गई है। इसलिए इस युग के समाज सुधारकों ने, साहित्यकारों ने नारी के शोषण, अन्याय-अत्याचार तथा चार दिवारों की कैद से मुक्ति दिलाने हेतु आवाज उठाई है।

शकुंतिका उपन्यास में मोरवाल जी के नारी पात्रों का व्यक्तित्व सुस्पष्ट, प्रबल एवं आकर्षक है। उपन्यास कार नारी के प्रति प्रगतिवादी तथा सुधारवादी विचार धारा को परिलक्षित करतें है। आधुनिक युग में बेटियों का महत्व बढता जा रहा है। बेटियाँ-बेटों के बराबर कंधे से कंधा मिलाकर कार्य कर रहीं है। आज बेटियाँ हर क्षेत्र में अपनी प्रतिभा से चमक रही है। शिक्षा के द्वारा ही उनके जीवन में परिवर्तन आया है तथा वह जीवन मे नई उंचाइयों तक जाने की कोशिश कर रही है। इतना सब होने के बाद भी वह अपनी घर की जिम्मेदारियों को भी भलीभाँति निभा रही है। माता-पिता के प्रति

का स्नेहभाव, आदरभाव, सेवाभाव जो लड़कियों में होता है। वह लडकों की अपेक्षा कई अधिक बढकर होता है। हरियाणा में लड़कियों का अनुपात अपेक्षाकृत कम है! समूचे देश में यह स्थिति से हजार लड़कों के पीछे 840 लड़कियों का यही अनुपात रहा है। समाज में बेटियों कमजोर समझा जाता है तथा उसको विशेष सुरक्षा कवच के दायरों में रखा जाता है। संविधान से मिले अधिकारों हकों से समता- बंधुता की अवधारणाएँ समझने लगी है और शिक्षा के क्षेत्र में हम देख सकते हैं कि लडकियाँ ही टॉप पर रहती है।

प्रस्तुत उपन्यास में समाज में परिवर्तन लाने की दिशा में घटनाओं के, पात्रों के माध्यम किया गया यह प्रयास है। साथ ही स्त्री शिक्षा के माध्यम से स्त्री सशक्तिकरण किस तरह से संभव हो सकता है; इसे भी समझा जा सकता है।

आनेवाली पीढ़ियों के लिए एक मार्गदर्शक के रूप में यह उपन्यास अपनी भूमिका अदा करने वाला ठहरता है।

यहाँ लेखक यह भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि स्त्री मुक्ति सहि अर्थों में तभी सम्भव हो सकती है जब स्त्री आर्थिक रूप से स्वावलंबी बनेगी। आर्थिक पराधिनता के कारण ही सभी को दास्यत्व की अबला की अवस्था में रहना पड़ा है।

आर्थिक स्तर का स्वातंत्र्य तभी संभव होता है, जब स्त्री अपने पैरों पर ही खडी रह सकेगी इसके लिए उसे शिक्षा की आवश्यकता लेखक ने प्रतिपादित की है। स्त्री शिक्षा तभी संभव होगी जब समाज और परिवार के लोग उसे पारंपारीक रूढियों, परंपराओं के बन्धनों से मुक्त कर सकेंगे। साथ ही समाज- में व्याप्त लिंग भेद का लिंग-परीक्षण करने वालों का उच्चाटन पुरुष कर सकेंगे। जब तक लिंगभेद मिटाकर उसे स्त्री- पुरूष समानता का जामा नही पहनाया जाता है तब तक रूढी-परंपराओं का दायरा भी बराबर बना रहेगा। जिससे स्त्री शिक्षा नही प्राप्त करा सकेगी। इस तरह से वह आर्थिक रूप से स्वतंत्र नही हो पाएगी, स्व विषयक निर्णय खुद नही ले सकेगी इस अवस्था मे स्त्री मुक्ति सम्भव नही हो सकती।

उपन्यासकार ने इस स्त्री मुक्ति के सूत्र को घटना एवं पात्रों के माध्यम से संपूर्ण उपन्यास में पिरोया है।

संदर्भ सूची:

1) राजकमल प्रकाशन प्रा.लि. दरियागंज, नयी दिल्ली, पहला संस्करण, 2020 पृ-15, डंठल = बिना पत्तों वले सुखे पेड-पौधे
2) भगवानदास मोरवाल राजकमल प्रकाशन प्रा।लि दरियागंज, नई दिल्ली। पहला संस्करण 2020- पृ.२२
3) मोरवाल भगवानदास, शकुतिका राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली पहला संस्कार- 2020 प्र.23 शब्दार्थ, चिरैयाँ, चिड़िया (लड़की) या लड़किया।
4) मोरवाल भगवानदास- शकुंतिका राजकमल प्रकाशन प्रा.लि. दरियागंज प्रकाशन नई दिल्ली पहला संस्करण-2020 पृ.104
5) मोरवाल भगवानदास, शकुंतिका राजकमल प्रकाशन। प्रा.लि. पृ.100
6) मोरवाल भगवानदास, शाकुंतिका पृ.45
7) मोरवाल भगवानदास, शकुंतिका पृ.39
8) मोरवाल भगवानदा, शकुंतिका पृ.50
9) मोरवाल भगवानदास, शकंतिका पृ.7
10) मोरवाल भगवानदास, शकुंतिका पृ.65
11) मोरवाल भगवानदास, शकुंतिका पृ.77
12) मोरवाल भगवानदास, शकुंतिका पृ.45

सिया, गार्गी, पिहू के माध्यम से ऐसा ताना-बाना बुनने का प्रयास किया है कि एक बार उपन्यास को पढने हेतु ले लिया तो अन्त तक कथा में रूचि बनी रहती है।

आज की युवा पीढी अपने करिअर और भविष्य को लेकर पहले से कितनी मात्रस्त है, यह उपन्यास उसकी भी एक झलक दिखाता है। आशा और निराशा के बीच पेंडूलम की तरह झुलता युवा वर्ग किस प्रकार हर रोज खुद को तराशने की कोशिश करता हैं। उसे भगवती की पोतियों से सिखा जा सकता हैं। यह उपन्यास उन लडकियों के लिए भी एक प्रेरक काम करता हैं, जो संसाधनों के अभाव में अपनी पढाई-लिखाई छोडकर हालातों से समझोता कर लेती हैं। अनेक अभावों से जूझते हुए भी लगातार मेहनत और धैर्य का सहारा लेकर कोई भी मुकाम हासिल किया जा सकता है।

'शकुंतिका' उपन्यास स्त्रियों के प्रति समाज में बनी अनेक धारणाओं को सिल-सिलेवार खंडन करता हैं। यह उपन्यास लडकियों को उनके मन मुताबिक जीवन जीने की आजादी देता है। उन्हें दीन-हीन और शोषित दिखाने की बजाय उनके सशक्त व्यक्तित्त्व को सामने लाने का प्रयास करता है। नारी अबला नहीं सबला है इस उक्ति को सत्य साबित करते हुए उपन्यास की सभी लडकियाँ समाज को अपने प्रति सोच बदलने के लिए मजबूर करती देती हैं। पढ-लिखकर लडकियाँ न केवल खुद आत्मनिर्भर बन रही हैं, बल्कि परिवार और समाज की हरसंभव मदत भी कर रही हैं। महिलाओं के प्रति अनेक नकारात्मक धारणाएँ भले ही समाज में मौजूद हो परंतु, इन सभी नकारात्मक धारणाओं को सकारात्मकता में परिवर्तित करना इस उपन्यास की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

उपसंहार के अंतर्गत हमने सभी अध्यायों का सार प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। प्रथम अध्याय के अंतर्गत भारतीय परंपरागत सामाजिक परिदृश्य का अवलोकन करने का प्रयास किया है। जिसमें भारतीय पुरुषसत्ताक संस्कृति का विस्तार से वर्णन करने का प्रयास किया गया है। भारतीय पौराणिक साहित्य जिसमें वेद, उपनिषद, श्रृतियों में नारी का बंधन में जकडकर रखने का प्रयास किया हैं। पौराणिक समय में स्त्री को पूर्णत:

पुरुष के उपर आश्रित दिखाया गया है। उसका रूप-स्वरूप, किया-कलाप, रहन-सहन और भावात्मक संवेदनाओं के आधार पर कमजोर और निराश्रित दर्शाया गया है। जिसके चलते हमारी वर्तमान पीढी बर्बाद होते हुए नष्टता की ओर अपने कदम बढा रहीं है। धर्म, वर्ण, लिंग, भेदभाव के आधार पर नारी केवल शोषण का पात्र बनकर रह गयी हैं। यही कारण है कि नारी के विकास में बाधा उत्पन्न हो गई है। उसका सर्वांगीण विकास नहीं हो पा रहा है। इसका समग्र लेखा-जोखा प्रस्तुत करते हुए स्त्री जीवन की अथड पीडा को उपन्यास में स्थान दिया गया है। इस बात का समग्र रूप में अध्ययन प्रस्तुत अध्याय में किया गया है।

द्वितीय अध्याय के अंतर्गत भगवानदास मोरवाल जी का जीवन परिचय तथा रचनात्मक सौष्ठत्व की और अधिक प्रकाश डाला हुआ है। बहुमुखी प्रतिमा के धनी भगवानदास मोरवाल जी ने अपने गहरे कथानक अन्वेषण, अनुसंधान और अछूते विषयों को केंद्र में रखकर हिंदी कथा साहित्य में अपनी एक अलग पहचान कायम की है। अपने लेखनकार्य के माध्यम से उन्होंने लोकमानस की अनुकृतियों को उकेर में हिंदी कथा साहित्य में अपना नाम प्रस्तुत किया है। समाज के प्रचलित विमर्शी के दौर में मौजूदा सामाजिक, राजनीतिक परिवर्तनों, सर्वसत्ता व लोकविरोधी तत्त्वों तथा आम आदमी की पृष्ठभूमि आधारित काला पहाड, बाबल तेरा देस में, रेत नरक मसीहा, हलाला, शकुंतिका, वंचना, खानजादा, सुरबंजारन आदि उपन्यासों की निर्मिती कर हिंदी साहित्य जगत को समृद्ध करने का प्रयास प्रयास किया है। सांस्कृतिक वर्चस्व के खिलाफ हाशिये की खुली चुनौती और प्रतिरोध दर्ज करनेवाले तथा कथा साहित्य में अपनी एक विश्वसनीय जगह बना चुके इस कथाकार के बिना आज समकालीन कथा साहित्य पर बात करना नामुमकिन है।

तृतीय अध्याय के अंतर्गत इक्कीसवीं सदी के स्त्री केंद्रित उपन्यासों का परिचय देकर स्त्री जीवन के विभिन्न पहलुओं को उजागर किया हैं। इक्कीसवीं सदी में नारी

साहित्य लेखन एक ओर जहाँ स्वत्व को प्रतिष्ठित करता हुआ 'स्वान्त सुखाय' सिद्ध हुआ। वही दूसरी ओर समस्त नारी जाति के कल्याण हेतू 'जनहिताय' भी साबित हुआ। २१वी सदी को बदलाव की सदी की संज्ञा दी गई है। इस बदलाव की स्थिति में भी नारी विमर्श के माध्यम से स्त्री जीवन के माध्यम से बडे बदलाव आते गये हैं। इन्हीं बदलावों को अपने उपन्यासों का विषय बनाकर समाज में स्त्री जीवन विभिन्न पहलुओं को विभिन्न उपन्यासों के माध्यम से प्रस्तुत अध्याय में देखने का प्रयास किया है।

चतुर्थ अध्याय के अंतर्गत शकुंतिका उपन्यास के तात्त्विक विवेचन पर दृष्टि केंद्रित की गई है। जिसमें की कथानक, चरित्र-चित्रण साथ ही संवाद योजना, देशकाल वातावरण, उद्देश्य ओर लक्ष्य केंद्रित करते हुए उपन्यास की तत्त्वों को स्पष्ट किया हैं। उपन्यास के तत्त्व उपन्यास के प्राण होते हैं, जिसके माध्यम से यह उपन्यास के एक सशक्त कृति बनकर पाठकों के सम्मुख उपस्थित होता है। अगर उपन्यास की कथावस्तु कमजोर हो अथवा चारित्र निर्माण में समाज में व्याप्त सभी बुराइयाँ उस चरित्रों में हो, संवाद अंतर्गत योजना न हो केवल अनगल बातों को प्रस्तुत प्रस्तुत किया तो यह कृति केवल कागज का पुलिदा बनकर रह सकती है। इसीलिए औपन्यासिक तत्त्वों को बडी प्रधानता होती है। भगवानदास मोरवाल जी अपनी औपन्यासिक कृति शकुंतिका में इन तत्त्वों पर विजय प्राप्त करते हुए दिखाई देते हैं।

पंचम अध्याय के अंतर्गत शकुंतिका उपन्यास में चित्रित नारी चेतना के विविध आयामों को प्रस्तुत किया गया है। आज की नारी परिवार, समाज और राष्ट्र के उत्थान में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रही है। वर्तमान समय में नारी-जागृति के कारण नारी की सामाजिक स्थिति में परिवर्तन हुआ है। इस उपन्यास में भगवादास मोरवाल जी ने नारी महत्ता व शिक्षा, स्त्री-पुरुष समानता, विवाह के बदलते प्रतिमान, सामाजिक रूढियों व परंपराओं आदि विविध आयामों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

अत: कहा जा सकता है कि बदलते समाज में पारिवारिक रिश्तों को भी अपने चपेट में ले लिया हैं। जहाँ रिश्तें अधिक बिखर रहें है, वही उपन्यासकार भगवानदास मोरवाल जी ने रिश्तें के अहसास को शकुंतिका उपन्यास में संजोने का प्रयत्न किया है। यह उपन्यास इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि लेखक मोरवाल जी परिवार से ही लोकतंत्र के महत्ता को दिखाने का प्रयास करते हैं। जो परिवार के प्रत्येक व्यक्ति को संगठित रखने में सफल भूमिका अदा की है।

पुरुषवादी वर्चस्व को पूरी तरह नकारते हुए स्त्री और पुरुष के सामंजस्य की महत्ता को दिखाने में यह उपन्यास निर्णायक भूमिका अदा करता है। उपन्यास की समाजशास्त्रीय दृष्टि से भी अगर पडताल करें तो भी इसकी कथावस्तु पूरी तरह महत्त्वपूर्ण बन जाती है। कुल मिलाकर आदर्शवादी यथार्थ बोध को हमारे समक्ष रखते हुए हमारी संवेदना को फिर से झकझोरता है कि परिवार बहुत जरूरी है।

कहा जा सकता है कि, यह उपन्यास स्त्री जीवन और उसके आधुनिक यथार्थ बोध को पाठकों के सामने प्रस्तुत करता है। शकुंतिका यह उनकी अनूठी उपलब्धि कही जा सकती है। अनूठी इसलिए है कि, क्योंकि भगवानदास मोरवाल जी ने सदियों से चली आ रही पितृसत्ताक परंपराओं को चुनौती देते हुए स्त्री जीवन के आधुनिक पक्ष को उद्‌घटित किया है। एक ऐसा विषय जो आज भी सामाजिक मानसिकता में बैठा है कि, स्त्री अबला है। लेकिन भगवानदास मोरवाल जी ने अपने उपन्यास में यह दिखाया है कि, अगर स्त्री-पुरुष भेद मिटाकर परिवारवाले साथ हो तो स्त्री विभिन्न चुनौतियों से लड सकती है। प्रस्तुत शोध के माध्यम से एक नवीन रूचिपूर्ण, शोधपरक जानकारी देने का प्रयास किया है। जिसमें कथात्मक नवीनता और शिल्प का प्रयोग करते हुए उपन्यास के कलात्मक पक्ष का दर्शाया है।

निष्कर्ष तथा उपलब्धियाँ:

1) वर्तमान हिंदी साहित्यकारों में भगवानदास मोरवाल का विशिष्ट स्थान है। समकालीन प्रश्नों को उजागर करने में आपका महत्त्वपूर्ण योगदान है।

2) भागवानदास मोरवाल जी ने अपने उपन्यास में महानगरीय नारी पात्रों के विविध रूपों का चित्रण किया है।

3) शकुंतिका उपन्यास के अंतर्गत भावों और विचारों के साथ-साथ लेखक ने अपने साहित्य में अलंकार, मुहावरों, लोकोक्तियों आदि का यथास्थान प्रयोग किया है।

४) मोरवाल जी के उपन्यास में आम आदमी एवं नारी जीवन यथार्थ की अभिव्यक्ति हुई है।

5) लेखक ने उपन्यास में समाज की सतह का चित्रण न कर समाज की गहराई में जाकर वह समाज को नेस विचार आधार प्रदान करते हैं।

6) शकुंतिका उपन्यास में भगवानदास मोरवाल जी ने स्त्री-पुरुष असमानता की खाई को भरने का सफल प्रयास किया है।

7) उपन्यासकार भगवानदासा मोरवाल जी ने नारी के प्रति प्रगतिवादी एवं सुधारवादी विचारधारा को परिलक्षित किया है।

8) भगवानदास मोरवाल जी ने नारी जीवन को अपने शकुंतिका उपन्यास का केंद्रिय विषय बनाकर अपनी सामाजिक प्रतिबद्धता को व्यक्त किया है।

9) शकुंतिका उपन्यास के माध्यम से लेखक ने समाज को व्यापक संदर्भों में देखने का प्रयास किया है।

10) शकुंतिका यह उपन्यास नई पीढी को एक स्वस्थ दृष्टिकोण देनेवाला उपन्यास है।

11) शकुंतिका उपन्यास में मानवीय रिश्तों और संवेदनाओं का अंकन हुआ है।

12) स्त्री शिक्षा के माध्यम से स्त्री सबलता का संकेत देकर समाज में जागृकता लाने का संदेश लेखक भगवादास मोरवाल जी ने दिया है।

संदर्भ ग्रंथसूची

अ) मूल आधार ग्रंथ:

आ) सहायक आधार ग्रंथ:

इ) शब्दकोश:

ई) साहित्यिक पत्र-पत्रिकाएँ:

अ) मूल आधार ग्रंथः

1. शंकुतिका, भगवानदास मोरवाल, राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली,

प्रकाशन वर्ष - 2020

आ) सहायक आधार ग्रंथः

1) अब नज़र अंदाज़ नहीं किया जा सकता, सुधा अरोडा, मुंबई विद्यापीठ तथा शब्द, प्रकाशन वर्ष - 2010
2) अल्मा कबूतरी, पुष्पा मैत्रेयी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-2000
3) आवाँ, चित्रा मुद्‌ग, सामयिक प्रकाशन, नयी दिल्ली, सातवा संस्करण-2012,
4) उपन्यास के रंग, अरुण प्रकाश, अंतिका प्रकाशन, गाजियाबाद, प्रकाशन वर्ष - 2013
1) कठगुलाब, मृदुला गर्ग, ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-2012
2) काला पहाड, भगवानदास मोरवाल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-1999
3) छिन्न मस्ता, प्रभा खेतान, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2016
4) तापस, पुष्पा राजापुरे, मुंबई विद्यापीठ एवं शब्दालय, प्रथम संस्करण-2010
5) तुलसीदास : व्यक्तित्त्व और कृतित्त्व, श्रीशरण, आधुनिक प्रकाशन, मौजपूर, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2002
6) द सेकंड सेक्स, सिमॉन द बुअर, पेंग्विन पब्लिकेशन, लंदन, 1952
7) नरक मसीहा, भगवानदास मोरवाल, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-2014

8) फिर कबीर, मुनव्वर राना, रुपांकन प्रकाशन, किला रोड इन्दोर, प्रथम संस्करण-2007

9) बदलते परिप्रेक्ष्य और हिन्दी उपन्यास, बीना जैन, संजय प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2006

10) बाबल तेरा देस में, भगवानदास मोरवाल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2004

11) भारतीय उपन्यास की अवधारणा, अलोक गुप्ता, रंगद्वार प्रकाशन, अहमदाबाद

12) मुरदाघर, जगदम्बाप्रसाद दीक्षित, राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-1974

13) रेत, भगवानदास मोरवाल, राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-2009

14) शकुंतिका : सृजन और दृष्टि, डॉ. अनिल सिंह, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गांधी मार्ग, प्रयागराज, पहला संस्करण-2021

15) साहित्य का समाजशास्त्र, मॅनेजर पाण्डेय, हरयाणा ग्रंथ अकादमी, संस्करण-1989

16) सीता मौसी, रमणिका गुप्ता, ज्योतिलोक प्रकाशन, आजादपूर, दिल्ली, संस्करण-2010

17) हिंदी लेखिकाओं के उपन्यास, उपाध्याय करुणाशंकर, प्रकाशित-फरवरी 2008

18) हिंदी साहित्य का इतिहास, डॉ. माधव सोनटक्के, विकास प्रकाशन, कानपूर, द्वितीय संस्करण-2000

इ) शब्दकोशः

19)उर्दू-हिंदी कोश, मुहम्मद सज्जाद उस्मानी एवं सुधीन्द्र कुमार, स्वराज प्रकाशन, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली, चौथा संस्करण-201

ई) साहित्यिक पत्र-पत्रिकाएँ:

1) हंस, संपा. राजेंद्र यादव, अर्चना वर्मा, महिला विशेषांक, नई दिल्ली

2) नया ज्ञानोदय, संपा. ज्ञानपीठ, नई दिल्ली

3) वर्तमान साहित्य, संपा. ममता कामिया, नई दिल्ली

4) समकालीन भारतीय साहित्य, प्रभाकर श्रोत्रिय, नई दिल्ली

5) अनुसंधान, शगुफ्ता नियाज, अलिगढ

6) वाङ्मय, फिरोज अहमद, अलिगढ

उपसंहार

भगवानदास मोरवाल की यह विशेषता रही है कि वे अपने प्रत्येक उपन्यास में एक नया अछूता विषय लेते हैं। उनका लघु उपन्यास जो राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली से प्रकाशित हुआ है, वह एक प्रासंगिक कथा और सामाजिक समस्या को अपने अंदर संजोए हुए हैं। प्रस्तुत उपन्यास की कथा केवल प्रासंगिक ही नहीं है, बल्कि वह हमारे समय में समाज की एक भयानक त्रासदी को दर्शाती है। पितृसत्ताक व्यवस्था ने जहाँ लैंगिक भेदभाव को समाज में बढाया है, वहीं स्त्रियों की दशा और भी हीन-दीन होती चली गई है। इसकी एक सबसे भयंकर त्रासदी कन्या-भ्रूण हत्या हमारे समाज में निरंतर एक समस्या बनकर उभरी है। जिससे अब तक निजात नहीं मिल पाई है। चाहे सामाजिक परिवर्तन के नाम पर हो रहे आंदोलन हो या कानून द्वारा दंडित करने का भय, लेकिन भारतीय समाज अपनी जडव्यवस्था, सडी-गली रूढि को अब तक ढोता चला आ रहा है। शकुंतिका ऐसे ही सामाजिक भेदभाव और लैंगिक असमानता को दर्शनावाला एक कथा प्रधान उपन्यास है, जिसमें दो परिवारों की कथा के माध्यम से लेखकने लडकियों के जीवन को सकारात्मक रूप में दर्शाते हुए, सामाजिक विकास की बेहतर अनुशासनिक रूपरेखा स्पष्ट की है और यह दर्शाया है कि, यदि परिवार में हम लडकियों को गंभीरता से ले, उनका पालन पोषण बिना भेदभाव करें तो वह नए-नए कीर्तिमान स्थापित करते हुए इतिहास रचने का कार्य करती हैं। इसी प्रकार की कथा की संरचना प्रस्तुत उपन्यास में दर्शायी गई हैं।

भगवानदास मोरवाल यह सिद्ध करना चाहते हैं कि स्त्रियाँ कमजोर नहीं होती, बल्कि पुरुष से अधिक सशक्त और कठोर इरादेवाली होती हैं। जो कि अपने लक्ष्य को हासिल करने के लिए प्रयत्नशील होत हुए एक दिन सफल भी हो जाती हैं। लेखक ने